प्रकाशक

श्री स्थानकवासी जैन श्रावक संघ

मु. शुजालपुर [म. प्र.]



मूल्य १-५०

निवेदन

असीम पुण्योदय से आचार्य सम्राट १००८ श्री आनन्द ऋषिजी म. सा. के आज्ञानुवर्ती परम श्रद्धेय प्रवर्तक कविवर्य प० र० गुरुदेव श्री सूर्य मुनिजी म० सा०, सेवा भावी प० र० श्री सुरेन्द्र मुनिजी म०सा०, पं० र० श्री रूपेन्द्र मुनिजी म०सा० एव आत्मार्थी–प०र० श्री उमेश मुनिजी म०सा० 'अणु' आदि ठाणा ४ का तथा श्री कंचन कुंवर जी म०सा० आदि ठा०का चातुर्मास वि०स० २०२७ के साल शुजालपुर सिटी मे हुआ ।

पू० गुरुदेव और श्री सुरेन्द्र मुनिजी म०सा० का स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी विहार मे परिषहो को सहन करके शुजालपुर में पधार कर हम पर अनुग्रह किया ।

पू०गुरुदेव का २०१५ का चातुर्मास जब थादला मे हुआ था, उस समय मुझे पं०र०श्री उमेश मुनिजी म०सा०के व्याख्यान श्रवण का सुअवसर प्राप्त हुआ था। तब मेरी इच्छा हुई कि–ये प्रवचन जन-जन तक पहुंचे तो अच्छा हो। इस भावना से प्रेरित होकर के मैंने व्याख्यान नोट करना प्रारम्भ किया, और उनका संशोधन करने के लिये पू०मुनि श्री जी से अर्ज की, लेकिन मुझे सफलता प्राप्त न हो सकी, इस ओर मुनि श्री की उपेक्षा ही रही। मेरे हृदय मे विचार चिनगारी की तरह विद्यमान रहे। इस बार मेरी भावनाओ पर अनुग्रह कर म०श्री ने संशोधन कार्य करने की स्वीकृति प्रदान की। चिरकाल की रही हुई मेरी इच्छा अब मूर्तरूप ले रही है, इस प्रसन्नता को मैं अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त करने मे असमर्थ हू ।

इस चातुर्मास मे उत्तराध्ययन सूत्र के २३ में अध्ययन -केसिगोयमिज्ज' पर आप श्री ने प्रवचन फरमाये, उन्ही प्रवचनो का सकलन किया गया है, इस प्रति में लगभग साढे पन्द्रह व्याख्यानों का संकलन पाठको के समक्ष आ रहा है। इस सकलन को जल्दी ही तैयार करने की श्री सुरेन्द्र मुनिजी म०सा०और श्री रुपेन्द्र मुनि म०सा० की विशेष प्रेरणा रही, और

व्याख्यान नोट करने में समय-समय पर उत्साह बढ़ाते रहे। अतः उन युगल मुनि श्री की भी मैं बहुत-बहुत आभारी हूं। और सच पूछा जाय तो यह सारा श्रेय शात स्वभावी पू० गुरुदेव की कृपा दृष्टि को है।

आगे की पीठिका की १६ गाथाओ पर १६-१७ व्याख्यान और शेष हैं, वे व्याख्यान पीठिका के दूसरे अश के रूप मे और केशि गौतम संवाद तथा उपसहार गाथाओ पर हुए व्याख्यान भी संकलित हो रहे हैं। वे यथावसर प्रकाशित होगें। इस अध्ययन के प्रवचन के लगभग इस आकार के ५-६ भाग हो जाएगें।

मेरी अनुपस्थिति मे श्री ज्ञानवतीजी म०सा०और कुसुम बहिन एम०ए ने भी व्याख्यान की नोंध ली अतः इस कार्य मे इनका सहयोग भी नही भुलाया जा सकता।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे श्री वर्द्धमान स्थानक वासी श्रावक सघ शुजालपुर ने अर्थव्यय का भार वहन किया, एतदर्थ साभार धन्यवाद।

छपाई व प्रूफ संशोधन कार्य श्रीमान् सुरेश चन्द्र डोसी एम०काम०एल एल०बी० व श्री नरेन्द्र बाबू बी०ए०ने अपना अमूल्य समय देकर इस कार्य को सुन्दर बनाने मे सहयोग दिया। ऐतदर्थ मैं इनकी भी बहुत-बहुत आभारी हूं।

इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के लिए मैंने साहित्य एव दर्शन के अधिकृत विद्वान श्री राजेन्द्र लालजी डोसी से कहा अत्यन्त हर्ष है कि उन्होने इसे स्वीकार करके अपना अमूल्य' समय देकर प्रस्तावना लिखने का कार्य किया, अतएव मैं श्री डोसीजी की भी बहुत-बहुत आभारी हूं।

आशा है, पाठकगण इन प्रवचनो द्वारा लाभ उठाकर अपने जीवन का उत्थान साधेंगे।

विशेष

छपाई कार्य के लिए पुस्तक प्रेस मे देने के बाद ही मुझे आवश्यक कार्य से वीर बाल-क्षेत्रो में दौरे के लिए जाना पडा। पुस्तक की सम्पूर्ण छपाई मेरी अनुपस्थिति में ही हुई है, अतः पुस्तक में बहुत-सी अशुद्धियां रह गई हैं। व्याख्यान भी सभी सम्मिलित कर दिये गये हैं। विभिन्न व्याख्यान विभिन्न शीर्षक देकर नही छापे जा सके हैं। उपरोक्त कारणो की वजह से पुस्तक का बाह्य-सौन्दर्य नहीं निखर पाया है। किन्तु आत्मार्थी मुनि श्री जी के मुखार विन्द से निकले हुए शब्दों का भावात्मक एवं अंतरिम सौन्दर्य तो यथावत् है। इस सचाई का अनुभव तो पाठको को सम्पूर्ण पुस्तक पढ लेने के बाद ही होगा।

अंत मे यही कहना चाहती हूं कि पुस्तक मे पाई जाने वाली समस्त भूलो का उत्तरदायित्व मुझ पर है। मेरे इस त्रुटि पूर्ण कार्य के लिए पाठगण मुझे क्षमा करें। पुस्तक के अवशिष्ट अंश के प्रकाशन मे पूरी सावधानी बरतने का प्रयत्न रहेगा।

कमला बहन
इन्दौर

प्रस्तावना

राजेन्द्रलाल डोसी

एम०ए० (पी०एच०डी०) न्यायशास्त्री न्याय-जैनन्याय काव्यतीर्थ

जैन धर्म एक महान् और अत्यन्त उदार दृष्टि वाला है। इसके सिद्धान्तो को विचार एव तर्क की कसोटी पर परखा जाय तो वे पूर्णरूप से खरे उतरते हैं। धर्म के दो अग होते हैं—विचार और आचार इसी को दूसरे शब्दो मे ज्ञान एव चारित्र कहते हैं। धर्म के तत्वो के विचार का नाम दर्शन है। जैन दर्शन कई विशेषताए लिए हुए है। उसमे एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक दर्शनो के ग्रंथो मे इतरमतो का मात्र खडन ही खडन है, वहा जैन-दर्शन ग्रन्थो मे इतरमतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय भी किया गया है।

दिल्ली के वर्तमान उपराज्यपाल एवं दर्शनो के प्रकाण्ड विद्वान डॉ० आदित्यनाथ झा लिखते हैं—[1] "जैन दर्शन की सामजस्य वादिता के बारे मे तो कहना ही क्या है? अन्य दर्शनो के साथ सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने के लिए तो उसका आविर्भाव हुआ है।[2] जैन दर्शन 'प्रमाण' तथा 'नय' का आश्रयण कर 'स्याद्वाद' के दृष्टिकोण से अन्य समस्त दर्शनो के दृष्टि भेद के समन्वयार्थ प्रयत्नशील होता हुआ सामाजिक सुव्यवस्था तथा विश्व बन्धुत्व की भावना का मार्ग प्रशस्त करता है और निष्पक्ष तथा निष्प्रतिबध रूप मे मानव जाति के ऐहलौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय का द्वार उद्घाटित करता है।"

---

(१) डॉ झा कृत 'भारतीय दर्शनो का समन्वय' पृष्ठ १३०

(२) उक्त पुस्तक पृष्ठ ११०

यह जैन-दर्शन की ही विशेपता है, जो वह अहिंसा की तह तक पहुंचने के लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नही रहा, अपितु वास्तविक आधार से मतवादियो की गुत्थियो को सुलझाने की मौलिक दृष्टि भी खोजकर मानस अहिंसा की उसी उदार दृष्टि का परिपोपण भी कर सका है । श्री हरिभद्रसूरी कृत 'षड्-दर्शन-समुच्चय' की टीका में मुनि गुणरत्नसूरि लिखते हैं-[3] "यद्यपि दर्शनानि निज-निज मतभेदेन परस्पर विरोध भजन्ते, तथापि तैरुच्यमाना: सन्ति तेऽपि वस्त्वशा ये मिथ: सापेक्षा. सन्त: समीचीनता मंचति" अर्थात् यद्यपि सभी दर्शन अपने आपसी मतभेद के कारण परस्पर विरोधी हो रहे हैं, पर एक वात तो सुनिश्चित है कि उन दर्शनो के द्वारा अपने अपने दृष्टिकोणो के अनुसार कहे जाने वाले वस्तु के ऐसे भी अश हैं, जो परस्पर सापेक्ष बनकर समीचीन बन जाते हैं, अर्थात् अविरोधी और सच्चे वन जाते हैं और ऐसे समन्वित वस्तवशो का प्रतिपादक स्याद्वाद सद्वाद हो जाता है।

जैनदर्शन और जैनधर्म मे जो शब्द प्रमाण रूप आगम है, वह दो प्रकार का है—अंगप्रविष्ट और और अगबाह्य । अगप्रविष्ट ही द्वादशाग कहा जाता है। अगबाह्य वह है, जो अग मे से निकाल कर जनसाधारण के हितार्थ सरल रूप मे ग्रथित किया गया हो। उत्तराध्ययन सूत्र की गणना अगबाह्य श्रुत मे है । भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण के दिन इस अध्ययन का उपदेश दिया था । इसीलिए इसका नाम उत्तर×अध्ययन =उत्तराध्ययन सूत्र अर्थात् उत्तर काल मे पढा हुआ अध्ययन उत्तराध्ययन है। उत्तराध्ययन सूत्र विविध तत्वज्ञान का सरल रूप मे प्रतिपादक है।

प्रस्तुत पुस्तक मे इसी उत्तराध्ययनसूत्र के तेवीसवें अध्ययन की गाथाओ के विवेचन रूप व्याख्यानो का सकलन है। इस तेवीसवें अध्ययन मे भगवन्

---

(३) षड्-दर्शन समुच्चय पृष्ठ ३ ।

पार्श्वनाथ की शिष्य-परम्परा मे के केशी-कुमार श्रमण और भगवान् महावीर के प्रधानशिष्य गौतमगणधर के परस्पर मिलन और बातचीत का वर्णन है।

एक समय मे केशि कुमार श्रमण और महामुनि गौतम श्रावस्ती नगरी में आये और अलग-अलग उद्यान मे ठहरे। दोनो की शिष्य-मडली के मन में परस्पर के परिचय से जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि हमारा धर्म कैसा है और इनका धर्म कैसा है? महामुनि पार्श्वनाथ ने चार यामरूप धर्म का और वर्धमान ने पाँच शिक्षा रूप धर्म का उपदेश दिया। एक अचेलक धर्म है, दूसरा सचेलक एक ही कार्य के लिये प्रवृत्त दोनो मे यह भेद क्यो है? शिष्यमडली की जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए दोनो महा श्रमण ने परस्पर मिलने का विचार किया। जिसको प्रतिबोध देना है, उसके पास प्रतिबोधक जाकर उसे प्रतिबोध दिया करते है। महाश्रमण गौतम मुनि ने बड़े विनीत भाव से केशि-श्रमण के पास जाकर उनके प्रश्नों का बड़े सरल ढग से उत्तर दिया। परिणाम यह हुआ कि केशी कुमार श्रमण ने भगवान् महावीर के पचमहाव्रत धर्म को अंगीकार किया।

इस कथा से हमको अनेक शिक्षाएं मिलती हैं। बड़प्पन एव अहकार का त्याग, परमविनीतता, तत्वग्रहण की ओर निष्पक्ष दृष्टि और खुला दिमाग रखना, अन्य व्यक्ति की भी यथार्थ बात को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लेना आदि शिक्षाएं, जो जीवन मे सामजस्य एव उत्क्रान्ति को लाती हैं, इस अध्ययन से हम ग्रहण कर सकते है।

इस तेवीसवें अध्ययन की ४ गाथाओ पर आत्मार्थी श्री उमेश मुनिजी 'अणु' के जो व्याख्यान हुए हैं, उनका सकलन प्रस्तुत पुस्तक मे है। श्री मुनि जी विद्वान और सुलझे हुए विचारो के हैं। विवेचना शैली इनकी सरल एव आकर्षक है।

यह सकलन आदरणीया श्री कमला बहन जैन ने किया है। श्री कमला बहन का जीवन तपोमय हो गया है। मेरी उनपर बडी श्रद्धा है । उन्होने जब मुझसे प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखने के लिये कहा, तो कई कार्यों मे व्यस्त होते हुए भी मैं उनको मना नही कर सका। उसका प्रति-फल आपके संमुख है। मैं श्री कमला बहन के इस स्तुत्य प्रयास की सराहना करता हू।

'प्रेम-निकेत'
राजमोहल्ला,
इन्दोर
१९-४-७१

विनम्र
राजेन्द्रलाल डोसी



अनुक्रमणी



धर्म के आदिकर

श्रमण भगवान् महावीर देव ने भव्य जीवो के हितार्थ धर्म मार्ग की देशना दी। भगवान् धर्म के आदिकर कहे जाते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर धर्म की आदि करने वाले होते हैं। आदि करना अर्थात् प्रारम्भ करना। तो क्या सब तीर्थंकर धर्म का प्रारम्भ करते हैं? यह कैसे सम्भव है? इस काल मे भगवान् ऋषभ देव ने धर्म का प्रारम्भ किया। क्या वह धर्म विच्छिन्न हो गया या प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल के आते आते क्या उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर से उपदिष्ट धर्म विच्छिन्न हो जाता है? नही, ऐसा एकान्त नियम नही है। धर्म तो चलता भी रहता है। किन्तु सूत्र धर्म का बहुत-सा अंश लुप्त हो जाता है। अत. सभी तीर्थंकर भगवान् अपने-अपने शासन के सूत्र धर्म के आदिकर्त्ता होते हैं। इसी अपेक्षा से वे धर्म के आदिकर हैं।

सूत्रों के रचयिता

भगवान् के तीर्थंकर नाम कर्म के उदय होने पर तीर्थ की स्थापना करते हैं। उनकी प्रथम देशना से प्रेरित होकर उस काल के चुने हुए विद्वान् या विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति दीक्षित होते हैं। उनके ज्ञान मे रही हुई अश मात्र भूल प्रभु से त्रिपदी प्राप्त करते ही मिट जाती है। वे विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हो जाते हैं। वे भगवान् से प्राप्त अर्थ को ग्रहण कर सूत्रो की रचना करते हैं। उन्हें गणधर कहते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के कई गणधर होते हैं। वे सब सूत्रो की रचना करते हैं। अपनी-अपनी द्वादशागी की

अलग-अलग शब्द-रचना करते हैं। भाव तो सब मे समान ही रहते हैं, किन्तु शब्द-सकलना मे भेद रहता है।

द्वादशागी का मूल स्रोत

गणधर दीक्षित होते ही, तत्व-जिज्ञासा से प्रेरित होकर भगवान् से प्रश्न करते हैं। भगवान् को प्रदक्षिणा देकर, वन्दना-नमस्कार करके, वे प्रश्न करते हैं--

भन्ते! किंतत्तं ?-भगवन्! तत्व-स्वरूप क्या है ?

भगवान् उत्तर देते हैं--

'उप्पन्ने इवा'!--उत्पन्न होना तत्व-स्वरूप है।

गणधर को शका होती है 'यदि तत्व उत्पन्न ही होते रहे तो समायेगे कहा।' अतः पुन. पूछते हैं-

'भन्ते! किं तत्तं ?'

उत्तर-'विगमेइवा'-नाश होना तत्व-स्वरूप है।

गणधर को पुन· शका होती है, कि-'उत्पन्न होकर, नष्ट हो जाने से किसी वस्तु की स्थिति ही नहीं रह पाती हैं।' अत पुन विधि पूर्वक पूछते हैं-'भन्ते! किं तत्तं ?'

भगवान् फरमाते हैं- धवेईवा'-तत्व ध्रुव हैं।

यह उत्तर सुनकर, गणधरो की समस्त शकाओ का समाधान हो जाता है और समस्त पदार्थो को अपेक्षापूर्वक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त समझ लेते हैं। सारा तत्व ज्ञान बुद्धि मे स्पष्ट हो जाता है। वे श्रुतकेवली हो जाते हैं। (१) इस त्रिपदी-लब्धि से वे अखिल द्वादशागी की रचना करते हैं।

भगवान महावीर के शासन का श्रुत

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। उन सबने द्वादशागियो की रचना की। पीछे के दो-दो गणधरो की द्वादशागियो की शब्द-रचना समान

हुई। अत. भगवान् महावीर के शासन में नव द्वादशांगियो की रचना हुई। ग्यारह गणधरों मे से प्रथम और पांचवें गणधर को छोडकर, शेष ९ गणधर भगवान् महावीर की विद्यमानता मे ही निर्वाण को प्राप्त हो गये। भगवान महावीर क निर्वाण के वाद इन्द्रभूतिजी गौतम को केवल ज्ञान हो गया। आचार्यपद छद्मस्थ को ही प्रदान किया जाता है। अत पचम गणधर आर्य सुधर्मस्वामी भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर युग प्रधान हुए। उन्ही की द्वादशागी सम्प्रति विद्यमान हैं–ऐसा विद्वानो का मत है। किन्तु मुझे ऐसा लगता है, कि आर्य सुधर्म स्वामी ने आर्य जम्बू को, गौतम गणधर की द्वादशांगी को प्रधानता देते हुए वाचना दी होगी।

पहले श्रुत को कण्ठस्थ रखने की ही परम्परा थी। उस काल मे लिपि और लेखन के साधन नही थे–ऐसी वात नही है। उन्हे सब साधन प्राप्त हो सकते थे। फिर क्या कारण थे–सूत्रो को कण्ठस्थ करने के। कई कारण हो सकते हैं। सम्भव है–दो कारण मुख्य रहे हो। प्रथम उपधि की अधिकता (परिग्रह) से बचना और दूसरा धारण-शक्ति के विकास की साधना। पर दुष्कालो की मार ने श्रुत को जर्जर कर दिया। कई विशिष्ट श्रुतधर आचार्यों-स्थविरों[1] का विरह हो गया। अवशिष्ट मुनियो ने कई वार-श्रुत रक्षा के प्रयत्न किये। आखिर में भ० महावीर के निर्वाण की ९ वी शताब्दि के वाद देवर्द्धिगणी क्षमा श्रमण ने श्रुतधरो का सम्मेलन करके, समस्त श्रुत साहित्य को ग्रन्थारूढ किया। यो तो इसके बहुत पहले से ही श्रुत लिपिवध्द होने लग गया था। परन्तु अवशिष्ट समस्त श्रुत उक्तकाल मे ही लिपिवध्द हुआ। वारहवां अंग विच्छिन्न हो गया। ग्यारह अंग भी अविकल नही रहे। आज जो कुछ भी श्रुत के अमृतविन्दु विद्यमान है, वह उन क्षमाश्रमण के प्रयत्नो का फल है।

---

१. इस विषय मे स्थानकवासी-परम्परा मे मतभेद हैं। कोई इस त्रिपदी से ही द्वादशांगी का उद्भव मानते हैं तो कोई गणधरो की विस्तृत पृच्छा को अंग-रचना का आधार मानते हैं।

(२) श्रुत-साहित्य में उत्तराध्ययन का स्थान

आज सूत्र-वाचन प्रारम्भ करना है, इसलिए यह सारा कथन पीठिका रूप मे किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र का वाचन होगा। उत्तराध्ययन सूत्र अंग सूत्र नही है।

समस्त श्रुत के दो विभाग हैं—सम्यग-श्रुत और मिथ्या-श्रुत। वीतराग कथित सूत्र और उसके आधार से बने हुए सूत्र सम्यग श्रुत हैं। और वीतराग-कथित सूत्र के आधार के बिना स्वच्छदमति से निर्मित श्रुत मिथ्याश्रुत हैं। सम्यग् श्रुत के दो भेद हैं—अंग और अंगबाह्य। कइयो का मत है, कि— श्रुत के ये दो विभाग, रचयिता के वैभिन्य की अपेक्षा से किये गये है। जो गणधरो की कृतिया है, उन सूत्रो को 'अग सज्ञा है और जो स्थविरो की रचनाए हैं, उन सूत्रो की 'अंगबाह्य' सज्ञा है। दूसरा मत है, कि सूत्र-उद्भव के आधार-वैभिन्य की अपेक्षा से ये दो विभाग किये गये हैं। त्रिपदी-लब्धि के पश्चात् उसी समय गणधरो के द्वारा की हुई सूत्र-रचना अंग प्रविष्ट' है और अन्यकाल मे की हुई गणधरो और बहुश्रुत स्थविरो की श्रुत-रचनाए 'अंगबाह्य' हैं।

'अंगबाह्य' सूत्रो के पुन दो विभाग है—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक-व्यतिरिक्त सूत्रो क भी दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक। दिवस और रात्रि के प्रथम और चतुर्थ प्रहरो में ही जिन सूत्रो के स्वाध्याय का विधान है—वे कालिक हैं और जिन सूत्रो का—प्रात, साय,—मध्यान्ह और मध्यरात्रि-इन चार अस्वाध्याय कालो को छोडकर, दिन-रात मे कभी स्वाध्याय किया जा सकना हो, वे सूत्र उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन सूत्र कालिक सूत्र है और चार मूल मे एक है।

(१) श्रुत का महत्व

पाच ज्ञान मे से श्रुत ज्ञान के द्वारा ही शासन की परम्परा चलती है। श्रुत ज्ञान हमारे लिए बडा उपकारी है। अन्य ज्ञानो मे लेन-देन का

व्यवहार नही हो सकता है। श्रुतज्ञान ही लिया-दिया जा सकता है।

कल्पना करो, यदि भाषा नही होती तो मनुष्य की क्या स्थिति होती ? मनुष्य के विकास मे भाषा का बहुत बड़ा हाथ है। भाषा के अभाव मे मानव भी पशु जैसा ही रहता। सारे ज्ञान-विज्ञान—भौतिक-आध्यात्मिक विकास मे भाषा एक प्रबल माध्यम के रूप मे कार्य करती आई है। भाषा के माध्यम से ही भूतकाल का सञ्चित ज्ञान हम तक आया। वर्तमान मे हम अपने भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा ही करते हैं और भाषा के माध्यम से ही आने वाले काल के लिए ज्ञान-राशि छोड जाएगे। अर्थात् भाषा के सहारे मानव विकास मे आगे बढा है। वनमानुष मनुष्य के आकार का ही प्राणी है। किन्तु वह अपने बुद्धिबल से स्वर-व्यन्जन आदि अक्षरो का विश्लेषण नही कर सका, तो वह विकास भी नही साध सका—पशु का पशु ही रह गया। मानव ने अक्षरो का विश्लेपण करके भाषा का निर्माण किया और सभ्यता, सस्कृति और आध्यात्म के प्रकाश को फैलाया। अक्षरो के समूह से श्रुतज्ञान का निर्माण हुआ है।

'उत्तराध्ययन' शब्द का अर्थ

'उत्तरज्झयणाणि' या उत्तराध्ययन सूत्र की यह सज्ञा क्यो पड़ी ? पहले साधु को दीक्षित होने के बाद साध्वाचार की जानकारी के लिए आचाराग का अध्ययन कराया जाता था। उसके बाद कुछ अध्ययन पढाये जाते थे। फिर नवदीक्षित को 'दशवैकालिक' पढ़ाने की परिपाटी प्रारम्भ होने के बाद, वे अध्ययन 'दशवैकालिक' के बाद पढाये जाने लगे। अतः उन अध्ययनो के समूह का 'उत्तज्झयणाणि' या 'उत्तरज्झयणाइ' नाम हो गया। इस दृष्टि से यहा 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'पश्चात्' हुआ—जैसा कि 'उत्तरार्ध' शब्द में है। इसलिए पूरे शब्द का अर्थ होगा—'आचार की जानकारी के

बाद पढ़ाये जाने वाले अध्ययन'। भ० महावीर का निर्वाण कार्तिक अमावस्या को हुआ—सोलह प्रहर तक अखण्ड देशना देते हुए। ५५ अध्ययन सुखविपाक के, ५५ अध्ययन दुःखविपाक के और ३६ अध्ययन अपृष्ट व्याकरण के बाद एक और अध्ययन फरमाते हुए, वे निर्वाण को प्राप्त हुए। 'अपृष्ट व्याकरण' ही उत्तराध्ययन सूत्र है। इस दृष्टि से 'उत्तरज्झयणाइं' शब्द का अर्थ—भ० महावीर के अन्तिम उपदेश से सकलित अध्ययन, "प्रश्न के बिना ही दिये हुए उत्तर रूप अध्ययनो का समूह' किया जा सकता है। एक परम्परा इस सूत्र को आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी द्वारा सकलित मानती है। 'उत्तर' अर्थात् श्रेष्ठ, उच्च। 'आचार की उच्चता या श्रेष्ठता के हेतु रूप श्रेष्ठ अध्ययनों का समूह'।

तेईसवां अध्ययन

उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीस अध्ययन हैं। चातुर्मास मे अथ से इति तक पूरे ही उत्तराध्ययन सूत्र पर प्रवचन करना सम्भव नही है। अतः प्रथम अध्ययन से प्रारम्भ न करके, बीच से ही अध्ययन लिया जा रहा है। तेईसवें 'केसिगोयमिज्ज' अध्ययन पर व्याख्यान देने की इच्छा है। अत यह अध्ययन आरम्भ किया जायगा।

शास्त्र और आचार

पहले यह कहा जा चुका है, कि—आचार-शास्त्र के अध्ययन के बाद 'उत्तराध्ययन' पढाया जाता था। यानी इस क्रम मे शास्त्र का अध्ययन करके, साधक आचार मे दृढ़ बने—यह उद्देश्य रहा होगा। वस्तुतः शास्त्रो के अध्ययन का ध्येय तत्व उपलब्धि के साथ-साथ 'आचार-निष्ठा' 'आचार-शुद्धि' और 'आचार-दृढता' होना चाहिए। वह समझ ही सही ज्ञान है, जो शुद्ध आचार मे साधक को दृढ बनाती हो। बिना ज्ञान के आचार शुद्ध और दृढ

नही हो सकता। ज्यो-ज्यो ज्ञान की वृध्दि हो, त्यो त्यों आचार परिपक्व होना-पुष्ट होना चाहिए। किन्तु आज इससे विपरीत वात ही नजर आती है। ज्यो-ज्यो ज्ञान बढता है, त्यो-त्यो आचार शिथिल बनता है। तो फिर विचार करें—यह ज्ञान बढ़ा या अज्ञान।

आचार दो प्रकार के होते हैं – सदाचार और दुराचार। जो शास्त्र-समझ सदाचार की पोषक है–निर्माता है, वही समझ सम्यग् ज्ञान है और जो शास्त्र-समझ दुराचार की पोषक या निर्माता है, वह मिथ्या ज्ञान है।

कई व्यक्ति शास्त्र सुनकर या पढकर, उसमें से विषय को पुष्ट करने वाली बातें ग्रहण करते हैं तो कई अपने दोषो को छिपाने के लिए शास्त्र को ढाल रूप मे बना लेते हैं। जो शास्त्र ज्ञान तारक हैं, वे उसे मारक बना डालते हैं। अपने दुराग्रह, दुरभिनिवेश और दुराचार के पोषण के लिए शास्त्रों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि सत्य का पता लगाना ही मुश्किल हो जाता है। शास्त्र को शस्त्र बना डालते है। शास्त्र से स्वार्थ-पोषण की युक्तियाँ निकालते हैं—

पण्डितजी ने पूछा—'क्या समझे' ?

कथा-वाचक पण्डितजी एक नगर मे पहुँचे। लोग बोले—
'पण्डितजी महाराज ! कथा सुनाओ।'
पण्डितजी ने पूछा–'कौनसी कथा सुननी है तुम्हें।'

'पण्डितजी। रामायण तो हम पढते ही हैं। सप्ताहजी में भागवत् भी सुन लेते हैं। आप तो महाभारत की कथा सुनाइये।'

पण्डित जी महाराज महाभारत सुनाने लगे बडे रोचक ढंग से। कथा की चर्चा राजसभा मे पहुची। राजा को भी सुनने की इच्छा हुई। राजा अति वृद्ध था। उसने अभी तक आद्योपान्त महाभारत सुना नहीं था। अतः

उसने पण्डितजी से राजमहल के चौक मे कथा सुनाने का आग्रह किया। पण्डितजी ने बहुत ही सुन्दर ढग से कथा की। श्रोताओ की उपस्थिति भी अच्छी रही थी। कथा समाप्त हुई। पण्डितजी को भेंट भी खूब मिली। पण्डितजी ने सोचा—'बड़े जिज्ञासु श्रोता हैं। किन्तु इन्होने क्या मर्म ग्रहण किया है—परीक्षा तो करू।'

पन्डितजी ने पूछा--आपने कथा सुनी ! कैसी लगी ?'

राजा—'बहुत अच्छी लगी। पर आप बहुत देर से आये !'

पण्डितजी आश्चर्य से बोले--'क्यो ? क्या देर हुई ? आप तो अभी बहुत-कुछ कर सकते हैं !'

राजा--'नही, पण्डितजी ! बात हाथ से निकल गई। मैंने अपने भाई-बन्धुओ को राज्य का बहुत बडा हिस्सा दे दिया है। यदि मैं यह कथा पहले सुन लेता तो मै भी सूई की नोक जितनी जमीन भी किसी को बिना युद्ध के नही देता।

रानी बोली--'हा ! पण्डितजी ! आप बहुत देर से आये। द्रौपदी ने पाँच पति किये तो भी सती रही तो मैं भी दो-चार पति कर लेती कोई बात नहीं थी। पर अब तो बुढापा आ गया है।'

राजकुमार, जिसकी उम्र ६० वर्ष के आसपास हो गई थी, बोला--'पण्डितजी' मैंने भी अब सुनी यह कथा ! यदि पहले सुनता तो मै भी अपने पिताजी को कैद करके, राज्य ले लेता। पर अब तो पिताजी मृत्यु के समीप पहुच गये हैं।'

वृद्धा-कुवारी राजकुमारी बोली--'पण्डितजी ! मेरी अभी तक शादी नही हुई। यौवन यो ही बीत गया। कुल-मर्यादा के गौरव मे जीवन का आनन्द नही लूटा। यदि यह कथा पहले जानती होती तो मैं भी सुभद्रा के समान किसी के साथ घर बसा लेती।'

पण्डितजी ने यह सब सुन कर, कानो मे उगलिया दे दी। उन्होंने और कुछ पूछना उचित नही समझा और वहाँ से पोथी लेकर रवाना हो गये।

कैसा सार निकाला उन्होने कथा सुनकर ! कैसी मतलब की बातें निकाली ! ज्ञानामृत जहर बन गया।

शास्त्र-श्रवण और बुद्धि

शास्त्रो मे हेय, ज्ञेय, उपादेय--सभी बातो का वर्णन आता है। यदि 'क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है'-यह समझने की शक्ति न हो तो शास्त्र-श्रवण सही रूप से परिगत नही होता है। यदि बुद्धि मलिन है—दृष्टि ठीक नही है, तो शास्त्र-ज्ञान भी विपरीत रूप से फलता है। निर्मल बुद्धि और सही दृष्टि वाला जीवन ही शास्त्र-ज्ञान से लाभ उठा सकता है। इसलिए ज्ञानियो ने कहा है, कि—'सम्यग् दृष्टि के लिए मिथ्या श्रुत भी सम्यग् श्रुत है, जब कि मिथ्या दृष्टि के लिए सम्यग् श्रुत भी मिथ्या श्रुत है।' क्यो कही है—यह बात ? सही समझ वाला साधक विकार-पोपक साहित्य से भी विकार-निरोधक तथ्य खीचता है, जब कि उल्टी मति वाला जीव त्याग-प्रधान साहित्य से भी विकार-वृध्दि के तथ्य निकालता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जानकारी बढी, विद्वत्ता बढी, पर आचार मे शैथिल्य आया। नये-पुराने विचारो के सघर्ष के नाम पर विकारो का पोषण होने लगा। आध्यात्मिकता के जामे के नीचे घिनौनी बातें पनपने लगी। यह सब क्या है ? मलिन बुध्दि का नग्न नृत्य। दृष्टि का-बुध्दि का मालिन्य जाय तो सम्यग् ज्ञान प्रगटे और सम्यग् ज्ञान ही सम्यग् चारित्र का मूल है। जो बुदि को निर्मल-दृष्टि को सम्यग् बनाने की चेष्टा नही करता, उसका शास्त्र-श्रवण सार्थक नही हो सकता।

तेईसवें अध्ययन की विषय वस्तु

तेईसवें अध्ययन मे क्या विषय है । श्रावस्ती नगरी मे पार्श्वनाथ भगवान के सन्तानीय शिष्य केशिकुमार श्रमण और भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर अर्थात् इन्द्रभूतिजी गौतम का मिलाप हुआ। दोनों परम्परा के वैभिन्य मे शिष्यो के हृदय मे शका हुई जिज्ञासा हुई। दोनो का समागम हुआ । तत्त्व-मन्थन हुआ और वास्तविकता का ग्रहण हुआ । ऐसा नियम है, कि पूर्व तीर्थंकर के अनुयायी साधक पश्चात्वर्ती तीर्थंकर के शासन को परीक्षण के बाद स्वीकार कर लेते है।

ज्ञानी से ज्ञानी का मिलाप

दोनो महापुरुष भिन्न-भिन्न तीर्थंकर के अनुयायी थे । फिर भी उनका मिलाप कितना सौजन्यपूर्ण रहा। आज कितनी विपरीत दशा है ? भिन्न परम्परा, भिन्न गुरुओ के शिष्यो की बात तो दूर रही। परन्तु एक ही परम्परा, एक ही गुरु के शिष्यो का मिलन भी सरल-हृदयता से नही होता है । ज्ञानी से ज्ञानी मिलते है तो तत्त्व की उपलब्धि होती है । पर, आज किस बात की उपलब्धि होती है। कहा है--

पण्डित पण्डितो दृट्वा, श्वानवतद् गुरगुरायते

एक कुत्ता दूसरे कुत्तो को देखकर गुर्राता है, कुछ ऐसी ही दशा हो रही है---आज विद्वानो की। एक विद्वान दूसरे विद्वान का यश सहन नही कर सकता। एक दूसरे से ईर्ष्या करते हैं और वाग्युद प्रारम्भ हो जाता है। खैर वाग्युध्द तो अब इतना नही रहा। पर, कलम-युध्द खूब चलता है चल रहा है। अपने मूल विषय पर आयें। दोनो महापुरुष ज्ञानी थे। उनका मिलाप हुआ । दोनो ने शान्ति मे तत्व-मन्थन किया । योग्य रीति से श्रवण-मनन के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

शास्त्र कौन सुने ?

आज स्थिति कितनी विषम है ? शास्त्र-श्रवण की रुचि ही कहाँ है ? भर्तृहरिजी के शब्दो मे कहूं-तो 'किसे सुनायें' सुभाषित अग मे ही जीर्ण हो गये'—

> वोध्दारो मत्सरग्रस्ता , प्रभवः स्मय-दूपिताः ।
> अवोधोपहताश्चान्ये, जीर्गमडे सुभाषितम् ।।

बुध्दिमान्-बुद्दिजीवी ईर्ष्या मे डूवे हैं । प्रभुलोक-सत्यसम्पन्न और वैभव-सम्पन्न नशे मे ही चूर हैं—उनका अभिमान ही नही उतरता । अन्य अवोध के मारे है । यो सुभापित अग मे ही जीर्ण हो गये ।

विद्वानो को, शिक्षितो को, शास्त्र सुनने की पड़ी नही है—रुचि नही है । वे साहित्य-विधाओ मे कुन्ठाओ या सन्त्रास के शोर मे ही उलझे हैं । किसी मे वाग्युध्द चल रहा है तो कोई लेखनी-युध्द मे मशगूल है । सत्ता-धीशो को जोड-तोड से ही फुरसत नही है । अपनी अकड़ मे ही ऐंठे रहते हैं । धनपतियो को लक्ष्मी की पूजा से ही अवकाश कहाँ ? उन्हे हजार के लाख और लाख के करोड वनाने की ही धुन है । सामान्य जन सकटो मे जीवन-व्यापन कर रहे हैं। जीवन के साधन जुटाने मे ही उसकी बुध्दि कुण्ठित हो रही है । अव शास्त्र की अगम गहराई मे कौन प्रवेश करे ? विपय से वहुत दूर निकल गया मैं । हाँ, तो ,ज्ञानी से ज्ञानी मिलते हैं तो अपूर्व आनन्द की सृष्टि होती है । भगवान् केशिकुमार श्रमण और भगवान् गौतम के मिलन से ज्ञान-चर्चा की मगलमय निष्पत्ति हुई ।

अव शास्त्र प्रारम्भ किया जाता है—

> जिणे पासि त्ति नामेण, अरहा लोग पूइओ ।
> सवुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ।।

इस गाथा मे भगवान् पार्श्वनाथ का स्वरूप दर्शाया गया है। सूत्रकार महर्षि ने गौरवपूर्ण शब्दो मे उल्लेख किया है उनका।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है––

पार्श्वनाथ नाम के जिन अर्हत्, लोकपूजित, सम्बुद्ध आत्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थंकर और जिन थे।

इस गाथा मे भगवान् पार्श्वनाथ के छह विशेषण आये हैं। इन विशेषणो से उनके गुणो की विशेषता बतलाई है। इन विशेषणो से कितने अर्थ का सग्रह किया गया है––यह आगे श्रवण करने पर विदित होगा।

जिणे पासित्ति नामेण ·······

उत्तराध्ययन सूत्र का तेईसवां अध्ययन आरम्भ किया गया है। इस अध्ययन की यह प्रथम गाथा है। पार्श्वनाथ नाम के एक जिन हो चुके है। कैसे थे वे ? उनके गुणो का वर्णन विशेषणो द्वारा किया गया है। ये विशेषण सभी तीर्थंकरो के लिए लगाये जा सकते हैं। यह स्थिति क्या बतलाती है ?

पूर्ण व्यक्ति समान होते हैं

जब पूर्णता तक पहुँच रहे या पहूचे हुए व्यक्तियो के गुणो का वर्णन किया जाता है, तब हमे लगता है, कि––उनमे बहुत अधिक समानता है–– गुणो की दृष्टि से उनमे कुछ भी अन्तर नही है। वस्तुत भिन्नता होती भी नहीं है। पूर्ण व्यक्तियो मे भिन्नता कैसे होगी ? सब के सब गुण मे पूरे हैं। शारीरिक अपेक्षा से, पुण्य के तारतम्य से भले ही उनमे भिन्नता हो, किन्तु आत्मिक दृष्टि से उनमे अशमात्र भी वैभिन्य नही रहता ! सब एक रूप हैं। वीतरागता मे एक रूपता ही है––वहाँ वैचित्र्य सम्भव ही नहीं।

ऐक तीर्थंकर का आराधक सब तीर्थंकर का आराधक

इस गाथा मे भगवान् पार्श्वनाथ का गुण-कीर्तन है। तीर्थंकरो मे गुण की दृष्टि से कुछ भी भिन्नता नही होती। चाहे ऋषभदेव हो, पार्श्वनाथ हो या महावीर स्वामी हो, सभी वीतरागता मे समान है। श्री पार्श्वनाथ भगवान् का इस गाथा मे इसलिए उल्लेख किया गया है कि—आगे इनकी परम्परा के मुनि का वर्णन आयेगा। वे भगवान् महावीर देव के शासन मे आये। जब सभी तीर्थंकर समान होते है, तो फिर वे मुनि भगवान् महावीर के शासन मे क्यो आये? उन्हे भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा को त्यागने की क्या आवश्यकता थी?

प्रश्न जरा विचारणीय है। जरा विचार करेंगे तो इस शका का समाधान हो जाएगा। शासन-व्यवस्था व्यवहार दृष्टि से होती है। जैसे कि—लोक-व्यवहार मे जिस राजा का वर्तमान मे अधिकार होता है, उसी की आज्ञा मान्य होते है। सभी जन उसी की रीति-नीति को शिरोधार्य समझते हैं। यद्यपि उससे पूर्ववर्ती राजा (जो कि विद्यमान राजा के पिता भी हो सकते हैं) से कोई द्वेष नही होता है और न वह उनकी व्यवस्था को चुनौती ही देता है, तदपि अपने अधिकृत मनुष्यो की आवश्यकता के अनुसार पूर्व व्यवस्था में परिवर्तन करता है और वह व्यवस्था सभी को मान्य होती है। ऐसी ही कुछ बात है, एक तीर्थंकर की परम्परा के अनुयायियो के, दूसरे तीर्थंकर के शासन मे आने के विषय में यह नियम है, कि पूर्ववर्ती तीर्थंकर के अनुयायी, विद्यमान तीर्थंकर की सर्वज्ञता और वीतरागता या उनके शासन की निर्दोषता की परीक्षा करके, उनके शासन मे सम्मिलित हो जाते हैं वे जानते हैं, कि एक तीर्थंकर का आराधक सभी तीर्थंकरो का आराधक होता है और एक तीर्थंकर का विराधक सभी तीर्थंकरो का विराधक। विद्यमान तीर्थंकर की विराधना न हो और उनकी आराधना का अवसर मिले, सम्भव है, इस दृष्टि से वे विद्यमान तीर्थंकर के शासन को स्वीकार करते हो।

भगवान् पार्श्वनाथ का पहले उल्लेख क्यों ?

यदि ऐसी बात है तो पहले उल्लेख भगवान् महावीर का होना चाहिए था, भगवान् पार्श्वनाथ का उल्लेख पहले क्यो किया गया है ?—पहले हमे यह समझ लेना चाहिए, कि प्रतिद्वन्द्विता का धर्म-शासन मे कोई स्थान नहीं है। जो जितना आदरणीय है, उसे उतना आदर देना ही चाहिए——यह धर्म दृष्टि है। भगवान् महावीर से भगवान् पार्श्वनाथ ज्येष्ठ थे और भगवान् महावीर के शासन के अनुयायियो को भगवान् पार्श्वनाथ अमान्य नही—किन्तु आदरणीय है। इसलिए भगवान् पार्श्वनाथ का उल्लेख पहले किया गया है।

मगलाचरण

इस गाथा को इस अध्ययन के मगलाचरण रूप मे भी माना जा सकता है। शास्त्र के प्रारम्भ मे भी क्या मगलाचरण की आवश्यकता है ? शास्त्र क्या अमगल है ? नही, शास्त्र तो सदा मगल रूप ही हैं। किन्तु श्रेय कार्य मे अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। अत शिष्यादि जो शास्त्र को पढें उन्हे निर्विघ्न रूप से ज्ञान की प्राप्ति हो—इस आशय से मगलाचरण किया जाता है। विघ्न उपशान्ति, शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति और पढ़े हुए पाठ की स्थिरता के लिए आदि, मध्य और अन्त मगल करने की पद्धति रही है।

मगल अर्थात् जो पापो को गाले, मलिनता से परे हटाये वह मगल। पाप का अभाव, शुभ-भावना, आनन्द-रूप स्थिति, शुद्ध भावना, इष्ट की स्तुति, प्रसन्नता आदि मगल हैं। यहाँ भगवान का गुण-स्मरण मंगल रूप मे लिया गया है।

मगल के भेद

मंगल को दो दृष्टि से देखा जा सकता है——स्वय पदार्थ की दृष्टि से और पदार्थ को ग्रहण करने वाले की दृष्टि से। वस्तु अपने आप मे शुद्ध,

आनन्दकारी, निष्पाप है—वह तो अपने आपमे मगल रूप ही हैं। किन्तु ग्रहण करने वाले के लिए वह मगल या अमंगल रूप मे परिणत हो यह ग्रहण करने वाले की योग्यता पर निर्भर है।

पानी सब जगह बरसता है। एक ही क्षेत्र मे समान मिट्टी मे स्थित नीम और गन्ने दोनो का सिन्चन करता है। उस एक ही पानी को नीम और गन्ना दोनो ही ग्रहण करते हैं। किन्तु वह नीम मे कडवे रस में बदल गया और गन्ने मे मीठे रस मे। जैसा जिसका उपादान था—उस रूप मे परिणत हो गया। भगवान् तो सदा मगल य हैं। किन्तु पात्र अयाग्य हो तो वे क्या कर सकते हैं। उन्हे जिस रूप मे ग्रहण करेंगे, उस रूप मे परिणमन होगा।

भगवान् का नाम लेते हुए भी जीव डूबे हैं

भगवान् मगलमय है। भगवान् का नाम मगलमय है। भगवान् का नाम लेते हुए पार हुए हैं। किन्तु कई जीव भगवान् का नाम लेते-लेते भव-सागर मे डूब गये हैं। आपको आश्चर्य हो रहा है। आपको लगता होगा, कि यह नई बात सुनी है। यह नई नही, लेकिन बिल्कुल सत्य बात है। भगवान के नाम से कइयो ने उत्थान साधा है तो कई अवनति के गहरे गर्त मे गिरे भी हैं। नाम लेने का महत्व नही है, नाम किस रूप मे लिया इसका महत्व है।

हवा तैराती भी है और हवा डुबाती भी है। तूफान बड़े-बड़े जहाजो को उलट देते हैं-डुबा देते हैं। उनमे यदि हवा से भरे हुए ट्यूब हो तो व्यक्ति उनके सहारे तैर कर, सुरक्षित स्थान पर पहुच जाते हैं। ट्यूब के भीतर भी हवा है और तूफान भी हवा है। एकने तैराया तो एकने डुबाया। इसका कारण है वायु की भिन्न स्थिति। इसी प्रकार व्यक्ति भगवान को

भक्तिभाव से भजता है तो भवसागर से पार होता है और उन्हे शत्रुभाव से देखता हैं, उनकी निन्दा करता है, उनका अवर्णवाद बोलता है तो प्रभु का नाम ले-लेकर ही ये कार्य करता है और यो वह प्रभु का नाम लेते-लते ही पाप-पङ्क मे डूब जाता है। भगवान का नाम लेते हुए अनन्त जीव संसार-सागर मे डूबे हैं, जैसे—गोशालक, जमाली आदि। यह उन्ही जीवो का अपराध है।

प्रभु-सन्मुखता का फल

कई कहते हैं–किसी भी भाव से भगवान को भजे, जीव पार हो जाता है, भले ही वह शत्रु भाव से भजे न ! यह सिर्फ भजन की महिमा है। भला, शत्रु भाव से भजने से कैसे पार हो जाएगा ? जिसने कभी भगवान को सत्य माना ही नही, उनके सत्यस्वरूप की रुचि ही नही की और न क्षणभर के लिए ही भगवत्स्वरूप के ज्ञान में प्रीति ही की, वह जीव कैसे भव-बन्धन से मुक्त हो जाएगा ? हाँ, एक बार भी, एक क्षण के लिए भी, जिसने भगवान के सत्य-स्वरूप की रुचि कर ली, वह अवश्य ही एक न एक दिन भव-सागर से पार हो सकता है। भले ही वह एक क्षण की भगवत्प्रीति के बाद भगवान को शत्रु रूप मे ही क्यो न देखने लग गया हो, किन्तु वह एक क्षण की रुचि उसे पुन. भगवत्स्वरूप की ओर लाएगी ही। शास्त्रीय भाषा मे कहे तो उसका देशन्यून अर्द्धपुद्गल-परावर्तनकाल मे अवश्य ही निस्तार होगा। विचारको ने इस भाव को एक उदाहरण से यो स्पष्ट किया है—

एक भाई ने सुना, कि समीपवर्ती पर्वत-गुफा मे अखूट वैभव भरा हुआ है। इस बात ने उसे वहाँ पहुचकर, वैभव-प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। वह महत्प्रयत्न से वहाँ पहुँच गया। गुफा के द्वार पर खडा है वह। गहन अन्धकार है गुफा मे। बिना प्रकाश के अन्दर प्रवेश

करने का साहस नही हो रहा है। वह प्रकाश के साधन ढूँढता है। वहां कुछ भी साधन नही मिले। जेब में हाथ डाला। दियासलाई हाथ मे आई। वह प्रसन्न हुआ। दियासलाई खोली। एक ही सलाई दिखाई दी उसमे। उस एक सलाई से प्राप्त प्रकाश को चिरस्थायी बनाने के साधनो की खोज के लिए इधर-उधर नजर दौडाई। पर निराशा ही पल्ले पडी। आखिर उसने उस एक सलाई को ही जलाई और कुछ कदम आगे बढ़कर भीतर दृष्टि दौड़ाई। वह प्रसन्न हो गया, अखूट वैभव को देखकर। दियासलाई कितनी देर जली? क्षणभर। फिर बुझ गई। भले बुझ गई। अब गुफा का रहस्य रहस्य नही रहा। उसे जो जानकारी प्राप्त हुई–वह कोई दिमाग से लुप्त नही हुई।

इसी प्रकार जो भगवान के सत्यस्वरूप को जानकर, एक क्षण के लिए भी उसमें रुचि, प्रतीति या श्रद्धा पा लेता है, उसके भवसागर से कभी न कभी पार होने मे सन्देह नही है। उसने कुछ योग्यता पा ली है। भगवान तो उदासीन निमित्त है। उनका अवलम्बन लेकर, आत्मा, योग्यता सम्पादन कर सकती है।

योग्यता विना मोक्ष भी दुःखद

जिसकी जैसी योग्यता होगी, वैसा ही वह निमित्त पाकर परिणत होगा। योग्यता के अभाव मे उत्तम निमित्त का सयोग भी योग्य फल की सृष्टि नही कर सकता है। योग्यता का अभाव होगा तो स्वर्ग भी नरक जैसा दुःखद लगेगा। कथा-ग्रन्थो मे वर्णन आता है–कोई व्यक्ति स्वर्ग मे गया-उत्पन्न हुआ। वह ज्ञान लगाकर, देखता है–'कहाँ है वह मेरा भाई' जिसके साथ मैंने त्रिखण्ड मे अपनी शक्ति का डंका बजा दिया था। अरे! वह नरक मे है, कहाँ एक दिन वह सुख-वैभव में मस्त था और कहाँ आज वह दुःख भोग रहा है! मैं उसके दुःख को दूर करूं।' यह सोचकर, वह देव

नरक में उस स्थान पर गया—जहाँ उसका भाई दु ख पा रहा था। तीसरी नरक तक देवो का गमन हो सकता है। यों शक्ति तो आगे भी जाने की होती है। लेकिन जाते हैं तीसरी नरक तक ही। उस देव ने अपने भाई को उठाया। किन्तु पारे की भाति उसका शरीर छिटक गया। फिर उठाया, पर फिर भी यही हालत हुई। आखिर, मे वह नरक का जीव बोला,—'भाई! मुझे यही रहने दो। मैं यही ठीक हू।' उसे देव का स्पर्श नही सुहाया। क्या देव स्पर्श दु खद होता है? नही, जैसे खारे जल के जीव स्वादु जल मे मर जाते हैं और मीठे जल के जीव खारे जल मे। क्यो मर जाते हैं? क्योकि उनमे उस स्थान पर रहने की योग्यता नही है। भगवान् किसी के लिए भी अमंगलमय बनना नही चाहते। किसी को भी दु खी देखना नही चाहते। वे तो अनन्त शक्तिमान हैं। तो फिर सब जीवो को मोक्ष मे क्यो नही पहुचा देते? बन्धु! अपनी स्वय शक्ति से योग्यता पाये बिना वे मोक्ष मे भी दु ख ही पाते हैं। सिद्धि क्षेत्र मे जीव अनन्त बार गया। पर एकेन्द्रिय रूप मे वहाँ दु ख ही पाया। इसी प्रकार भगवान् को अमगल रूप मे ग्रहण करने वाले के व्यक्तित्व मे, भगवान् की मगलमयता के लिए, पात्रता नही है।

मंगल को मगल रूप में ग्रहण करने पर ही मंगल होता है

जब व्यक्ति मगल रूप भाव को अमगल रूप मे ग्रहण करता है, तब वह उससे विमुख बन जाता है और जो मगल-भाव को मगल रूप मे ग्रहण करता है, तो वह उसके सन्मुख बन जाता है। उनकी सन्मुखता या विमुखता ही उनके फल की विचित्रता मे कारण बनती है। जो भगवान के मगलमय स्वरूप को समझकर, उन्हे मगलमय मानता है तो उसे वे मगल रूप मे परिणत होते हैं। इस विषय पर एक छोटा-सा उदाहरण सुना है—

एक किसान दम्पति अक्षय तृतीया के दिन खेत मे हल खेडने का मुहूर्त करने जा रहे थे। उन्हे नगर के बाहर निकलते ही एक सन्त सामने से

आते हुए मिले । लोच के कारण उनके सिर के बाल वहुत ही कम हो गये थे और फिर फागुन मे ही लुन्चन हुआ था । मस्तक धूप से चमचमा रहा था । किसान ने मुनि को देखकर मुंह विचकाया और पत्नी से बोला—

'आज वड़े अमगल दर्शन हुए हैं । अपशकुन हो गया । सामने यह मुन्डिया मिल गया । इसके मस्तक पर नाम मात्र केश हैं । इस साल अपने खेत में वहुत कम पैदावार होगी ।'

उस दम्पति से कुछ दूर पीछे दूसरे किसान-दम्पति हल लेकर आ रहे थे । वे भी अपने खेत पर जा रहे थे । मुनि को देखकर किसान वड़ा प्रसन्न हुआ । हाथ जोड़े और पत्नी से वोला—

'आज वड़े अच्छे शकुन हुए हैं । महाराज के दर्शन हो गये । कितना बड़ा माथा है महाराज का ? कैसा चमक रहा है ? अपने खेत मे इतने-इतने वड़े जुवार के पौधे पर पु खड़े लगेंगे ।'

दोनो ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से मुनि को देखा । मुनि तो निर्विकार भाव से आगे वढ गये । कथाकार आगे कहते है--जिसने जिस दृष्टि से मुनि को देखा था, उसे वैसा ही फल मिला । पहले किसान के खेत मे टिड्डी और पौधे के रोग के कारण नाम मात्र ही अन्न पैदा हुआ और दूसरे किसान के खेत मे अन्य वर्षो के अपेक्षा वहुत अधिक अनाज पैदा हुआ ।

दोनो को मिले थे एक ही मुनि । मुनि तो मगलमय ही थे । उनके हृदय मे किसी का अमगल करने की अश मात्र भी भावना नही थी । किन्तु ग्रहण करने वाले की भावना कहाँ जाएगी । उन्हे अपनी भावना का फल मिलेगा ही । कहा भी है ..

जाकी रहई भावन जैसी ।
तिन प्रभु-मूरत देखी तैसी ॥

जो भगवान को मंगल माने और उन्हे मंगल रूप मे ग्रहण करे तो उसकी मगल-भावना का फल उसे मिलेगा ही। इसलिए इस मगल गाथा का पुन. उच्चारण करते है—

जिणे पासित्ति नामेण, अरहा लोग पूइओ।
सम्बुद्धप्पा य सव्वण्णू, धम्मतित्थयरे जिणे॥

भगवान् के विशेषणो पर विचार

इस गाथा मे श्री पार्श्व-जिन का वर्णन है। एक पार्श्व नाम के जिन हो गये हैं। कौनसे जिन या तीर्थंकर थे वे ?—तेईसवें। वे जिन कैसे थे ? अर्हत् या अर्हन् थे, लोकपूजित थे, सबुद्ध आत्मा थे, सर्वज्ञ थे, धर्म तीर्थंकर-धर्म-तीर्थ के निर्माता थे और जिन राग-द्वेष रूप महामल्लो के जेता-भाव महायोद्धा थे। अब इन ६ विशेषणो पर क्रमश एक-एक विशेषण को लेकर विचार करें।

'अर्हत्' शब्द का अर्थ

अर्हत् शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है, जैसे—पूजा के योग्य, योग्यता वाले, सामर्थ्यवान् आदि। अर्हा-पूजा-महापूजा। जो महापूजा के योग्य हैं, उन्हे 'अर्हत्' कहते हैं।

वडे देवता जगत् मे, ताते उत्तम इद।
सो सेवा जाँको करै, प्रणमो देव जिनद॥

संसार मे देव वडे माने जाते हैं। उनमे भी उत्तम उनके अधिपति इन्द्र होते है। वे इन्द्र भी जिनके चरणो मे नमस्कार करते हैं। ऐसे है समस्त लोक मे श्रेष्ठ शरीरधारी जिनेन्द्रदेव। जिनकी चौसठ इन्द्र भी पूजा करते हैं, जिनकी सामर्थ्य के समक्ष लोक के सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्यवान् भी अपनी शक्ति

को तृणतुल्य मानते हैं और जिनके प्रभाव के रंग मे सचराचर जीव रंग जाते हैं। अर्हत् ऐसे उत्तम कोटि के महामानव होते हैं।

समस्त सामर्थ्यों का महाकेन्द्र

जो मानव दीन-हीन दिखाई देता है, दयनीय, दुर्बल, काम-क्रोध का क्रीडास्थल और वासना का सामान्य कीडा दिखाई देता है, उसी मानव में कितनी सम्भावनाएं भरी हुई है, कितनी शक्तियां छिपी हुई है? मनुष्य ही शक्तियो, समस्त सामर्थ्यों का जड-चेतन ऐश्वर्यों का महाकेन्द्र वन जाता है। सामान्य मानव उठते-उठते इतना उच्च वन जाता है, कि अर्हत् के रूप मे महाप्रातिहार्य आदि अद्वितीय ऐश्वर्य का स्वामी वन जाता है। ऐक दिन जो अपने को दरिद्र मानकर, ऐश्वर्य के लिए हाथ फैलाता था, आज वह तो निरीच्छ हो गया, किन्तु ऐश्वर्य उसके चरणो मे लोट लगा रहा है।

परम सौन्दर्य के स्वामी

सौन्दर्य मे भी उनके युग मे उनकी जोड का कोई सुर-नर नही होता है। अर्हत् अवर्णनीय सौन्दर्य के स्वामी होते हैं। उनके सौन्दर्य के विषय मे श्री मानतुंगाचार्य कहते हैं—

यैं शान्त-राग रुचिभि· परमाणुभिस्त्व
निर्मापितस्त्रिभुवनैक-ललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव. पृथिव्या
यत्ते समानमपर नहि रूपमस्ति ॥

हे तीन लोक मे अनुपम सौन्दर्य के स्वामिन्! जिन शान्तराग रुचि वाले परमाणुओ से आपके शरीर का निर्माण हुआ है, वे परमाणु पृथ्वी पर निश्चय ही उतने ही थे। इसीलिए आपके समान अन्य रूपवान् भूमण्डल पर नही है।

विचार करिये,—कवि क्या कह रहा है ? क्या भगवान के शरीर जितने ही उत्तम परमाणु तीन लोक मे थे ? क्या यह सत्य है ? शास्त्र में वर्णन आता है—सब जीवो ने सब परमाणुओ को अनन्त-अनन्त वार ग्रहण किये हैं। आदिनाथ या पार्श्वनाथ भगवान के जीव ने भी सभी पुद्गलो को अनन्त-अनन्त वार ग्रहण किया ही था। फिर तीर्थंकर के भव मे देह रूप में परिणत पुद्गल उनसे या अन्य जीवो से कैसे अछूते रह गये होगे ? यह सभव ही नही है। वे पुद्गल सभी जीवो से भुक्त ही होगे। फिर ऐसी अतिशयोक्ति से भरी स्तुति कवि ने क्यों की ? शास्त्र-वचन से विरुद्ध ऐसी झूठी स्तुति से क्या लाभ ?

क्या कवि ने झूठी स्तुति की है ? कवि सामान्य व्यक्ति नही है। सिध्दान्त-मर्मज्ञ आचार्य हैं। उन्होंने झूठी स्तुति नही की है। इसमें कुछ न कुछ रहस्य होना चाहिए। वह रहस्य कवि ने स्वय खोल दिया। 'शान्तराग' शब्द शका का समाधान कर रहा है। जिस प्रकार के शान्तराग-कषायो की मन्दता के स्तर मे तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन होता है, वैसा शान्तराग अन्य जीवो के नही होता है। खुद तीर्थंकरो के जीवो में भी उस समय से पूर्व नही होता है। अत वैसी आत्म-परिणति के अभाव मे पुद्गलो मे भी उसके निमित्त से होने वाला परिवर्तन नही होता है। जैसे तृण में दूध होता है, किन्तु गाय आदि दुधारू जानवर के शरीर के सयोग विना उनमे वास्तविक दुग्ध-पर्याय प्रकट नही हो सकता है। इसी प्रकार 'शान्त-राग' के निमित्त से उपार्जित तीर्थंकर नाम कर्म के निमित्त के बिना तीर्थंकर के देहगत परमाणुओ की अन्यत्र वैसी पर्याय प्रकट नही हो सकती है। अत कवि ने कार्य-कारण मे अभेद स्थापित करके कहा, कि 'आपके देह जितने अलौकिक परमाणु ही त्रिभुवन मे थे। इसलिए आप जैसा सौन्दर्यशाली इस पृथ्वी पर कोई अन्य नही है।'

भगवान के सौन्दर्य से भी आकर्षित होकर, कई साधनापथ के पथिक बनते हैं।

परम-ऐश्वर्य में निर्लिप्तता

दैहिक सौन्दर्य के साथ ही साथ भगवान का भौतिक ऐश्वर्य भी अनूठा होता है। भगवान के गर्भ मे आते ही, संसार का विपुल वैभव उनके पिता के भन्डार में खिचकर आने लगता है। वे वैभव को त्याग देते हैं। किन्तु वैभव उनके पीछे पीछे दौडता है। वे चलते है तो उनके चरण धरती पर पडते ही नही हैं। उनके चरण तले स्वर्ण-कमलो की रचना होती चलती है। 'अशोक वृक्ष छाया करता है। चामर विजाते रहते हैं। तीन छत्र उपरो-परि रहते हैं। पुष्प वृष्टि होती है। देव दुंदुभिनाद करते हैं। पाद-पीठ युक्त रत्न-सिहासन साथ चलता है। करोड देव सेवा मे उपस्थित रहते है। किन्तु भगवान उन सब से निर्लिप्त रहते हैं। सिहासन से भी कुछ अधर रहते हैं। ऐसे वीतराग-आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न व्यक्तित्व के आस-पास ही उत्कृष्ट भौतिक ऐश्वर्य का आविर्भाव हमे क्या सन्देश देता है, इस पर मनन करना चाहिए।

'जिणे पासित्ति'

श्रमण भगवान् महावीरदेव ने अपनी अन्तिम देशना मे जो भाव फरमाये, उन्हे सूत्रकार महर्षि ने सूत्र-निबध्द किये। उस उत्तराध्ययन सूत्र का तेईसवाँ अध्ययन चल रहा है। भगवान श्री पार्श्वनाथ के वर्णन मे आये हुए विशेषणो पर विचार चल रहा है। कल 'अरहा' विशेषण पर विचार किया था। जिस व्यक्ति मे अलौकिक आत्म-शक्तियो का विकास हो जाता है, जिसमे विशिष्ट पुण्योदय के साथ समस्त आत्म-शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं-वे हैं अरहा-अरिहन्त।

आकर्षक व्यक्तित्व

अर्हन्त भगवान् का अमित प्रभाव होता है। उनमे अपूर्व आकर्षण होता है। उनका व्यक्तित्व चुम्बकीय-आकर्षण-सा बन जाता है। उनके

चुम्बकीय व्यक्तित्व के कारण प्राणी बिना बुलाये ही उनके पास खिचे हुए चले आते हैं। दिया पतगे को बुलाने नही जाता। किन्तु पतगा उसकी लौ से आकर्षित होकर, खिचा आता है और लौ मे अपने को होम देता है। भगवान का आकर्षण इतना परवश नही बनाता है। व्यक्ति उसके आकर्षण मे अन्धा नही बनता है। उनके आकर्षण से आत्मभान खोना नही है, लेकिन आत्मभान प्राप्त करता है, मरण नही अमरत्व प्राप्त करता है। अत वह उनकी सहज भाव से पूजा करने लग जाता है। उसे उनकी पूजा करने मे कृतकृत्यता भासित होती है अत. लोक उनके पुजारी बन जाते हैं।

लोक-पूजित

'लोग-पूइओ' दूसरा विशेषण है। श्री पार्श्वनाथ भगवान लोक-पूजित थे। क्या वे समस्त लोक से पूजित थे ? इस पर विचार करें। लोक मे चार गति है—चौबीस दण्डक हैं। चार गति मे नरक के जीव अत्यधिक परतन्त्र हैं। आयुष्य पूर्ण हुए बिना अपने स्थान से निकल कर कही जा नही सकते हैं। जब तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है तब क्षण भर के लिए वे सुखानुभव करते हैं और सम्यग् दृष्टि होते हैं, उनके हृदय मे प्रभु के प्रति भक्ति-भावना होती है, किन्तु वे भक्ति प्रकट करने के लिए भगवान के पास आ नही सकते। शेष तीनो गति के जीव भगवान के पास आते है। अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति-भावना प्रकट करते है।

समवसरण-धर्मसभा

भगवान का लोकपूजित स्वरूप समवसरण मे विशेष रूप मे व्यक्त होता है। समवसरण की रचना देव करते हैं। वह अनुपम कोटि की धर्म-सभा की रचना है। इस कोटि की चक्रवर्ती की राजसभा भी सम्भव नही है। उसमे बारह प्रकार की परिषद् के बैठने की उत्तम व्यवस्था रहती है।

उस सभा मे व्यक्ति जहाँ कहीं भी बैठता है, वह अपने को भगवान् के सन्मुख ही पाता है। भामण्डल-तेजोवलय के कारण भगवान् चतुर्मुख दिखाई देते हैं। वहाँ व्यक्ति संसार के सभी दु खो को भूल जाता है। शारीरिक; मानसिक आदि कोई भी चिन्ताएँ उसे नही सताती हैं। लोकगत चौबीस दण्डक में से तेईस दण्डक प्रभु की उस धर्मसभा मे पाये जाते हैं—एक नरक के दण्डक को छोडकर। सुनने वाले १६ दण्डक के जीवो मे से १५ दण्डक के जीव वहाँ पाये जाते हैं। सिंह और बकरी, सांप और नेवला जसे जन्मजात वैर वाले जीव भी वहाँ वैर-वृत्ति को भूल जाते हैं। मनुष्य भी उस समय उस स्थल पर वैर-विरोध को सहज ही छोड़ देते है और भगवान् के प्रति भक्ति से भर जाते हैं। इन्द्र भी वहाँ उपस्थित होकर, अपने को कृतकृत्य मानते हैं। कहा भी है—

तुम इन्द्रो के आकर्षण हो।
जगजन के करुणा-सावन हो॥

६४ इन्द्र उनके चरण-कमल की रजरूप मकरन्द के भौरे बने रहते हैं। यो भगवान् लोक-पूजित हैं। सभी व्यक्तियो मे यद्यपि भक्ति नही होती है और न सभी व्यक्ति भगवान् के पास आते ही हैं तथा ऐसा सम्भव भी नही है, तदपि भगवान् लोक-पूजित हैं। लोक-समुदाय के प्रमुख उन्हें पूजते हैं—

'सुरनाथ नमे, नरनाथ नमे
पशुनाथ नमे, नयकार नमो।'

देवो के स्वामी इन्द्र, मनुष्यो के स्वामी नरेन्द्र चक्रवर्ती और पशुपति मृगेन्द्र-सिंह प्रभु को नमस्कार करते हैं।

यशो नामकर्म

भगवान को कोई पूजता है या कोई नही पूजता है तो इससे भगवान को कुछ भी अपेक्षित नही है। भगवान को यह चाह ही नही है--कोई उन्हें

पूजे। किन्तु यह सत्कार-पूजा भगवान के यशोनामकर्म और उच्च गोत्र के उदय से प्राप्त होती है। ज्ञानावरणीय आदि कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ है। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान गुण को ढँकता है। दर्शनावरणीय कर्म दर्शन गुण को ढकता है। शाता-अशाता के हेतु रूप कर्म को वेदनीय कर्म कहते है। श्रद्धा और चारित्र में विकृति उत्पन्न करने वाला कर्म है मोहनाय। एक भव मे देह मे रोक कर रखने वाला कर्म आनुष्य। नाना रूप-रग, आकार-प्रकार मे हेतु रूप कर्म नामकर्म। गोत्र कर्म जीव की उच्चता-नीचता मे हेतु बनता है। जीव की वीर्यादि शक्तियो में बाधक कर्म अन्तराय कहलाता है। इन आठो कर्मो की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। नामकर्म की उत्तर प्रकृतियो मे दो प्रकृतियाँ हैं—यशोनाम और अपयशनाम। यशोनाम कर्म के उदय से जीव को यश. कीर्ति की प्राप्ति होती है। व्यक्ति के जिस समय इस प्रकृति का उदय होता है तो उस समय वह अच्छा या बुरा कोई भी कार्य करे उसे यश ही प्राप्त होता है और अपयश नामकर्म के उदय से जीव को अपयश ही अपयश मिलता है।

इस प्रकार भगवान शुभनामकर्म और उच्च गोत्र कर्म के उदय से—इच्छा न होते हुए भी यशोधन और लोकपूजित बनते हैं।

प्रतिष्ठा और गौरव मे अनासक्ति

भगवान ने यश को नही चाहा, किन्तु यश उनके पीछे-पीछे दौडता रहा। क्या यश प्रतिष्ठा से ही गौरव प्राप्त होता है? क्या यश-प्रतिष्ठा और गौरव से आत्मा का उत्थान होता है? नही। 'ज्ञानी कहते हैं—

'प्रतिष्ठा शूकरी-विष्ठा, गौरव घोर रौरवम्।'

प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा के समान है और गौरव घोर नरक के समान है। यह साधक की दृष्टि है। ऐसी दृष्टि से ही साधक आत्म-उत्थान साध सकता है, क्योकि प्रतिष्ठा और गौरव की आसक्ति अत्यन्त भयकर

होती है। भगवान कभी चाहते ही नही है, कि–'मैं पूजित बनू' 'लोक मेरी पूजा करे।' किन्तु भगवान पूर्वकृत शुभकर्मो के उदय से लोकपूजित बने। इस लोकपूजित गुण के कारण कई जीव भगवान के सन्मुख हुए हैं। क्यो कि कई जन पूजित पूजक-पूजे जाते हुओ को पूजने वाले होते है। वे पहले गतानुगतिकता से भगवान के सन्मुख बनते हैं और फिर तत्व को समझकर, अपना उत्थान साध लेते है।

भगवान स्वत. सहज मे ही पूजित बने। उन्होंने पूजित बनने के लिए अश मात्र भी प्रयत्न नही किया। भगवान को नमस्कार करते हुए लोक-प्रदीप कहा है—

'नमोऽत्थुण . लोगपईवाण'
लोक के प्रदीप को नमस्कार हो !

दीपक अपने आप दिखाई देता है। दीपक की विद्यमानता मे दीपक के गुण बतलाने की–परिचय देने की आवश्यकता नही। दीये को देखने के लिए अन्य दीपक की जरूरत नही रहती। जिस प्रकार दीपक का जलना ही दीपक की ख्याति करता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपने गुणो के प्रकट करने के कारण अपने आप प्रसिद्ध होते हैं। लोकोक्ति है–देव की महिमा बढाते हैं–पण्डे-पुजारी। किन्तु भगवान् को न पण्डे की जरूरत पडती है, न पुजारी की। साधक सहज भाव से आते हैं-साधना के लिए और सत्य के आराधक बनकर, अपनी आत्म-साधना के लिए अनन्य-शरणता को अवलम्बन जानकर, भगवान् की उपासना करते हैं। न उपासक को बाह्य स्वार्थ है और न वह चमत्कार को आत्मोत्थान का चिन्ह मानता है और न भगवान् ही लोक-पूजा से गौरव मे वृद्धि मानते हैं। अत भगवान् गुणो के प्रकाश से स्वय प्रकाशमान होते हैं। फिर लोकैषणा-यश इच्छा से प्रेरित क्रिया का अवकाश ही कहा है।

यश.–तारक या मारक

लोक यश पाने के लिए क्या-क्या नही करते हैं ?–हीन से हीन क्रिया करने मे भी हिचक नही होती है। 'दसवेयालिय सुत्त' में कहा है—

पूयणट्ठा जसोकामीली, माण-सम्माण कामए ।
वहु पसवई पाव, मायासल्ल च कुव्वई ॥

–पूजा का अर्थी-यश का अभिलापी मान और सम्मान के लिए वहुत सी पाप-क्रियाओं को विशेष प्रयत्नो से उत्पन्न करता है और माया रूप कण्टक क्रिया भी करता है। जहाँ पूजा या मान-सम्मान की इच्छा होती है वहाँ माया-छल सहज ही आ जाता है। दिखावट-बनावट होने लगती है। वह कइयो को दु:खद वन जाता है। देश मे, समाज मे, सघ मे अशुद्धि का-कलह और विग्रह का उत्पादक वन जाता है। यह यश अन्य के लिए और उसके लिए भी मारक वन जाता है।

भगवान् ने लोक-पूजा पाने के लिए न छल किया, न धोखादेही की। उनके शुभ कर्म के उदय से वे पूजित वने और उनका यश अनेक व्यक्तियो के लिए तारक वन गया।

स्वय सवुद्ध

अव भगवान पार्श्वनाथ के सम्बुद्धात्मा (सवुद्धप्पा) विशेषण पर विचार करना है। भगवान पार्श्वनाथ सम्बुद्ध-सबोधि को प्राप्त-आत्मा थे। वे इस तीर्थकर के भव मे स्वय सम्बुद्ध थे। उन्हे किसी के उपदेश के निमित्त के विना ही सम्बोधि प्राप्त थी। पूर्व की इतनी प्रवल साधना थी, कि इस भव में उपदेश की आवश्यकता ही नही रही। वे जव गर्भ मे जन्म लेते हैं, तव तीन ज्ञानमति, श्रुत और अवधिज्ञान–साथ मे लाते हैं। ग्रन्थ-

कार तो यहां तक कहते हैं, उन्हें विद्याध्यन की भी आवश्यकता नही पड़ती। सिध्दान्त क प्रकाश मे यह बात हृदयगम भी होता है। जब उन्हे गृह-त्याग की इच्छा होती है तभी लोकान्तिक देव प्रकट होकर, अपनी कर्त्तव्य परम्परा का निर्वाह करते है, कहते है–'भगवान ! वीतराग बनकर, तीर्थं की प्रवृत्ति कीजिये। भव्य जीव आपकी राह देख रहे हैं।' तत्त्वार्थ-श्रध्दान की प्राप्ति दो प्रकार से होती है निसर्ग से और अधिगम से। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय मे कहा है

'तिन्निसर्गादधिगमाद्‌वा'

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति स्वभाव से और उपदेश के निमित्त से होती है।

निमित्त से ज्ञान

स्वभाव से ज्ञान प्राप्त करने वाले अल्प होते हैं। उपदेश से ज्ञान प्राप्त करने वालो की सख्या अधिक होती है। इस लिये उपदेश, शिक्षण आदि का महत्त्व है। उपदेश के अभाव मे जिन्हे बोधि--प्राप्ति होती है, वे व्यक्ति दो तरह के होते हैं एक वे जिन्हे बाह्य कारण के बिना ही ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हे स्वयसम्बुद्ध कहते हैं और दूसरे वे जिन्हे बाह्‌य कारण ककण, आम्रादिके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति है। विदेह के राजा नमिराज के देह मे दाहज्वर उत्पन्न हुआ। वैद्यो ने कहा बावना चन्दन के लेप से रोगी की उपशाति होगी।' रानियाँ स्वय अपने हाथ से चन्दन घिसने लगी। रानियो के हाथ के ककण परस्पर टकराने लगे। किसी समय मे उन ककणो की मधुर लगने वाली ध्वनी, आज नमीराज को कर्णकटु शोर प्रतीत होने लगी। नमीराज ने कहा– 'यह शोर क्यो हो रहा है?' मत्री ने उत्तर दिया– 'महाराज! लेप के लिए चन्दन घिसा जा रहा है, जिससे रानियो के ककण परस्पर टकरा रहे हैं। यह उनके ककणो की ही ध्वनी है।' नमिराज– 'किसी की भी ध्वनी हो, यह शोर बन्द करो।' चूडियाँ तो सौभाग्य का चिन्ह! कैसे उतारी जायँ! पर शोर बन्द होना चाहिये। रानियो ने एक-

विजया--'पण्डितजी? क्या कहू ? कुछ कहने जैसी बात नहीं है। हाय ! पडितजी बोले--'साफ कहो न !' विजया आसू लाकर बोली-'हाय' पण्डितानीजी . आपकी पन्डितानीजी' 'क्यो? क्या हुआ है !' विजया-'बेचारी विधवा हो गई हैं। क्या सुख देखा उसने?' और रोने लगी। पण्डितजी-'ऐ ! मेरी पण्डितानी विधवा हो गई। हाय! बेचारी।' पन्डितजी रोने लगे। जया-विजया ने बड़ी मुश्किल से हँसी रोकी। पण्डितजी को आश्वासन दिया और दोनो रवाना हो गयी।

पण्डितजी घर चले-पर रोते-रोते। लोगो ने देखा पण्डितजी आज ही आये है और कोई अशुभ खबर लेकर आये हैं। लोग भी सवेदना प्रकट करने के लिए साथ हो गये। घर पर बात पहुच गई। स्त्रियाँ भी रोने लगी। और भी स्त्रियाँ आगई। पण्डितजी आँगन मे लोगो के बीच मे बैठे हुए जारो जार रो रहे हैं और स्त्रियाँ रो रही हैं। लोग पण्डितजी को शान्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पण्डितजी शान्त ही नही हो रहे हैं। लोगो ने पूछा 'कहाँ से खबर आई है ?' पण्डितजी बोले-गाव मे रहते हो और इतनी भी खबर नही है। हाय! मेरी पण्डितानी विधवा हो गई है।' इतना कहकर पण्डितजी रोने लगे। लोग ठहाका मारकर हस पड़े। स्त्रियो का रोना बन्द हो गया। पर पण्डितजी चुप नही हुए।

विधवा बहिन से यह सब नही देखा गया। वह बाहर आई और कहने लगी--'भाई ! यह क्या कर रहे हो ?'

पण्डितजी--'क्या कर रहा हू, तुझे नही मालूम ? हाय ! मेरी पण्डितानी,

बहिन--'क्या हुआ है उसे ? वह तो मौज मे है !'

पण्डितजी--'अरे ! वह बेचारी विधवा हो गई है।'

बहिन-- तुम बैठे हो और वह कैसे विधवा हो गई ?'

पण्डितजी तर्कशास्त्री थे न ! उन्होने तर्क किया--'वाह ! मै बैठा हू और तुम कैसे विधवा हो गई ?'

बहिन को भी हँसी आ गई। वह बोली—'अरे! मेरा पति मरा, जिससे मैं विधवा हो गयी। परन्तु पण्डितानी के पति तुम हो तो तुम्हारे रहते वह कैसे विधवा हो गई?'

पण्डितजी हक्के-बक्के होकर बोले—'अरे! जया-विजया ने मुझे झूठी ही बात कही। कैसी शरारती लड़कियां हैं? बचपन मे भी मुझे बनाया करती थी और आज भी बना दिया।'

लोग हँसते-हँसते बिखर गये। जाते-जाते विजया से बोले—'विजया! गजब किया तूने! भारी पोत प्रकाशे पण्डितजी के।'

विजया—'मैं क्या करूं? मैंने पण्डितजी की परीक्षा की और पण्डितजी सच मान गये। मैंने देखा-पण्डितजी चीटियों के बिल पर ही बैठे हैं। मैंने सोचा-पण्डितजी को अभी प्राथमिक सामान्य नीति का भी बोध नही है, कि नीचे देखे बिना नही बैठना। इसका शिक्षण तो सुसराल मे भी मिल जाता है। अतः मैंने सोचा-पण्डितजी पढ़े, पर गुने नही और मैंने परीक्षा कर डाली। वे परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हुए तो मैं क्या करूं?'

यह एक उन पण्डितजी की ही बात नही है। कई बार सभ्य और शिक्षित कहलाने वाले मोहमुग्ध होकर, हास्यास्पद तर्क करते हैं। अतः विद्वत्ता कुछ और है और ज्ञान कुछ और है।

उपसंहार

व्यक्ति बाह्य ज्ञान-जानकारी तो बहुत बटोर लेता है। परन्तु अन्तर्जागरण अति कठिन हैं। उसी अन्तर्जागृति की अपेक्षा से ही 'बोधि' शब्द के 'सम्' उपसर्ग लगाया गया है। सम्बोधि प्राप्ति के अभाव मे जीव का उद्धार नही है।

एक ककण रखकर, शेष ककरण उतार दिये । कुछ देर पीडा से कराहते हुए नमिराज ने पूछा– 'चन्दन घिस गया क्या ? '

मत्री– 'नही महाराज ! अभी घिसा जा रहा है ।'
नमिराज– 'तो फिर, आवाज कैसे बन्द हो गई ?'

मंत्री– 'महाराज ! रानियो ने एक-एक ककरण रखकर, शेप ककण उतार दिये हैं । इसलिये ध्वनी थम गई ।'

नमिराज सोचने लगे–'बहुत ककण थे तो टकराहट होती थी और शोर होता था एक कंकरण रहा तो किससे टकराये ! शोर बन्द हो गया । जहाँ अनेक हैं, वही टकराहट है–कोलाहल है । जहाँ एकाकी है, वहाँ शाति है–दो होगे, वही झगडे होगें । जड और चेतन इन दोनो का सयोग है–तभी तक यह कर्मरूपी झगडा है–व्याधि है, पीडा है ।' इस विचार द्वारा के माध्यम से मोहकर्म उपशात हुआ और जातिस्मरण ज्ञान हो गया

'उवसरतमोहणिज्जो, सरई पोराणिय जाइ'

पूर्व भव का ज्ञान हो गया । सम्वोधि प्राप्त हो गई । जिन्हे इस प्रकार बाह्य कारण से ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हें प्रत्येकवुध्द कहते हैं । सामान्य व्यक्यो मे भी स्वयसम्वुध्द होते है । किंतु तीर्थंकर तो स्वयंमम्वुध्द ही होते हैं ।

'सम्वोधि' का अर्थ विद्वता ज्ञान

वोधि, सम्वोधि, सम्यकत्व आदि शब्द प्राय: एकार्थक हैं । जिन्हें सम्यग रूप मे वोध प्राप्त हुआ हो, उन्हें सम्वुध्द कहते हैं । वोधि अर्थात् हेयोपादेयता का ज्ञान । व्यक्ति ज्ञान की वातें वहुत किया करते है । परन्तु सही समझ तो विरले व्यक्ति को ही प्राप्त होती है । विद्वता और ज्ञान

एक ही नही है। विद्वता कभी-कभी ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक हो जाती है। इसी आशय को गुजराती लोकोक्ति मे यों व्यक्त किया गया है--

'विद्वान् भूले नही ने भूले तो गीत भूले'

विद्वान मनुष्य भूल नही करता है और भूल करता है तो ऐसी भयकर भूल करता है, कि उसे समझना मुश्किल हो जाता है। उसका तर्क-शील मस्तिष्क औंधे तर्क करता हैं और दीवार को ही दरवाजा समझ लेता है, मार्ग के अवरोध को प्रगति का कारण मान लेता है। ऐसे व्यक्ति ज्ञान का बोझ ढोते रहते है-जिन्दगी भर और हँसी के पात्र बनजाते हैं।

पण्डित हरिराम काशी से पढकर लौटे। कई वर्षों बाद घर आ रहे थे। घर मे मां विधवा बहिन और उनकी पत्नी थी। उपनयन सस्कार के साथ ही उनके लग्न कर दिये गये थे। इसके बाद वे तुरन्त ही काशी पढने चले गये थे। विद्वान होकर वे घर लौट रहे थे। हृदय मे कुटुम्बियों से मिलने की उत्सुकता थी। वे जल्दी-जल्दी कदम बढा रहे थे। थक गये, विश्राम के लिए अपने गांव के बाहर बैठ गये। जया-विजया उनके साथ मे बचपन मे खेलने वाली दो बहिने थी। वे अपनी सुसराल से पीहर आई थी। वे दोनो पानी भरने जलाशय पर जा रही थी। उन्होंने पण्डितजी को पहचान लिया। जया बोली पण्डितजी विद्वान् बनकर आये हैं।

विजया-'पढे हैं, पर गुने नही।'

जया-'यह तेरी कैसी आदत है? हर बात में नोक झोक करती है।'

विजाया– अच्छा आओ परीक्षा करें।'

विजया ने जया के कान में कुछ कहा। दोनो पण्डितजी के पास पहुची। विजया-'धन्य भाग्य! पण्डितजी आज 'काशी से पढ़कर पधारे। परन्तु'...विजया एकदम रुआसी हो गई।

पण्डितजी ने आश्चर्य से पूछा–'परन्तु...... क्या?'

विजया--'पण्डितजी? क्या कहू ? कुछ कहने जैसी बात नहीं है। हाय ! पंडितजी बोले--'साफ कहो न !' विजया आसू लाकर बोली-'हाय' पण्डितानीजी . आपकी पन्डितानीजी' 'क्यो? क्या हुआ है !' विजया-'बेचारी विधवा हो गई हैं। क्या सुख देखा उसने?' और रोने लगी। पण्डितजी-'ऐं ! मेरी पण्डितानी विधवा हो गई। हाय! बेचारी।' पन्डितजी रोने लगे। जया-विजया ने बड़ी मुश्किल से हँसी रोकी। पण्डितजी को आश्वासन दिया और दोनो रवाना हो गयी।

पण्डितजी घर चले-पर रोते-रोते। लोगो ने देखा पण्डितजी आज ही आये है और कोई अशुभ खबर लेकर आये हैं। लोग भी सवेदना प्रकट करने के लिए साथ हो गये। घर पर बात पहुंच गई। स्त्रियाँ भी रोने लगी। और भी स्त्रियाँ आगई। पण्डितजी आँगन मे लोगो के बीच मे बैठे हुए जारो जार रो रहे हैं और स्त्रियाँ रो रही हैं। लोग पण्डितजी को शान्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। पण्डितजी शान्त ही नही हो रहे हैं। लोगो ने पूछा 'कहाँ से खबर आई है ?' पण्डितजी बोले-गाव मे रहते हो और इतनी भी खबर नही है। हाय! मेरी पण्डितानी विधवा हो गई है।' इतना कहकर पण्डितजी रोने लगे। लोग ठहाका मारकर हस पड़े। स्त्रियों का रोना बन्द हो गया। पर पण्डितजी चुप नही हुए।

विधवा बहिन से यह सब नही देखा गया। वह बाहर आई और कहने लगी--'भाई! यह क्या कर रहे हो ?'

पण्डितजी--'क्या कर रहा हू, तुझे नही मालूम ? हाय ! मेरी पण्डितानी,

बहिन--'क्या हुआ है उसे ? वह तो मौज मे है !'

पण्डितजी--'अरे! वह बेचारी विधवा हो गई है !'

बहिन--तुम बैठे हो और वह कैसे विधवा हो हई ?'

पण्डितजी तर्कशास्त्री थे न ! उन्होने तर्क किया--'वाह ! मैं बैठा हू और तुम कैसे विधवा हो गई ?'

वहिन को भी हँसी आ गई। वह बोली—'अरे! मेरा पति मरा, जिससे मैं विधवा हो गयी। परन्तु पण्डितानी के पति तुम हो तो तुम्हारे रहते वह कैसे विधवा हो गई?'

पण्डितजी हक्के-वक्के होकर बोले—'अरे! जया-विजया ने मुझे झूठी ही बात कही। कैसी शरारती लड़कियां हैं? बचपन में भी मुझे बनाया करती थीं और आज भी बना दिया।'

लोग हँसते-हँसते बिखर गये। जाते-जाते विजया से बोले—'विजया! गजब किया तूने! भारी पोल प्रकाशे पण्डितजी के!'

विजया—'मैं क्या करूँ? मैंने पण्डितजी की परीक्षा की और पण्डितजी सच मान गये। मैंने देखा-पण्डितजी चींटियों के बिल पर ही बैठे हैं। मैंने सोचा-पण्डितजी को अभी प्राथमिक सामान्य नीति का भी बोध नहीं है, कि नीचे देखे बिना नहीं बैठना। इसका शिक्षण तो सुसराल में भी मिल जाता है। अतः मैंने सोचा-पण्डितजी पढ़े, पर गुने नहीं और मैंने परीक्षा कर डाली। वे परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुए तो मैं क्या करूँ?'

यह एक उन पण्डितजी की ही बात नहीं है। कई बार सभ्य और शिक्षित कहलाने वाले मोहमुग्ध होकर, हास्यास्पद तर्क करते हैं। अतः विद्वता कुछ और है और ज्ञान कुछ और है।

उपसंहार

व्यक्ति बाह्य ज्ञान-जानकारी तो बहुत बटोर लेता है। परन्तु अन्तर्जागरण अति कठिन है। उसी अन्तर्जागृति की अपेक्षा से ही 'बोधि' शब्द के 'सम्' उपसर्ग लगाया गया है। सम्बोधि प्राप्ति के अभाव में जीव का उद्धार नहीं है।

आज 'लोकपूजित' और 'सम्बुद्ध' इन दो विशेषणो पर विचार किया। शेष विशेषणो पर यथावसर विवेचन करने पर, श्रवण करने से विदित होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र का तेइसवाँ अध्ययंय चल रहा है। भगवान् पार्श्वनाथ के आत्मगत गुणो का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि जीव के विकास-क्रम का भी सकेत कर रहे हैं।

सम्यक्त्व और सम्बोधि

जीव का विकास सम्बोधिकी प्राप्ति के बाद सहज हो जाता है। सम्बोधिकी प्राप्ति के बाद ही वास्तविक आत्मोन्नति का क्रम प्रारम्भ होता है। यो सम्यक्त्व और सम्बोधि एकार्थक लगते हैं। परन्तु इनके अथ मे थोडा सा अन्तर होना चाहिए। मुझे लगता है, कि—'सम्यक्त्व' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य—तीनो की सम्यग् रूपता गृहीत हो जाती है। किन्तु आजकल यह शब्द सम्यग्-दर्शन के अर्थ मे रूढ-सा हो गया है। अतः सम्यक्त्व का अर्थ तत्वार्थ-श्रद्धान लेना योग्य है। ऐसा सम्यक्त्व तो तीर्थंकरो को पूर्व जन्म से ही साथ रहता है। तो फिर 'सम्बोधि' का क्या अर्थ लेना चाहिए? 'सम्बोधि' शब्द का अर्थ भी 'हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक' किया जा सकता है। पर पूर्व प्रश्न तो खडा रहेगा, कि—तीर्थंकरो को स्वयंसम्बुद्ध कैसे कहे? इसका समाधान यह है, कि—पूर्व भव की बोधि साथ रहने के कारण ही उन्हे स्वयं सम्बुद्ध कहते हैं। यदि सम्बोधि का अर्थ यह लिया जाय, कि—'हेय को छोडने और उपादेय को ग्रहण करने की तत्परता' तो उपर्युक्त समाधान की जरूरत न रहेगी। यह 'जागृति भाव' रूप आशय भी सम्यक्त्व की अत्यन्त गहराई वाली अवस्था को ही सूचित करता है। 'हेय, ज्ञेय और उपादेय की सही समझ के अभाव मे उत्थान का क्रम प्रारम्भ ही नही होता।' जब कि—

सम्बोधि-हेय के छोडने और उपादेय के ग्रहण करने की तत्परता—के बिना उत्थान-मार्ग में गति ही नही हो सकती है।

सम्बोधि की दुर्लभता

व्यक्ति अपने आपको जितना समझदार मानता है—उतना अन्य को नही। बात-चीत के प्रसग मे वह कहता है—मुझसे क्या छिपाते हो? मुझे सब मालूम है। मैं सब जानता हूँ। मुझसे क्या छिपी हुई बात है? मै क्या इतना भी नहीं जानता हूँ? मुझे क्या बुद्धू समझ रखा है? मैं तो पहले से ही यह सब जानता था। मुझे क्या समझते हो? मैं क्या बुद्धिहीन हूं? मेरी जानकारी के बाहर कोई बात नही है।' कहने का ढग ऐसा रहता है, कि—मानो वह सर्वज्ञ ही हो। व्यक्ति की ऐसी वृत्ति भी ज्ञान-प्राप्ति मे बाधक बनती है।

मनुष्य जिस प्रकार अपने को अक्ल मे अधूरा नही मानता है, इसी प्रकार अपने को धन मे कभी पूरा नही मानता है। कितना भी वैभव बढ जाय, साधनो की विपुलता हो जाय तो भी वस्तु की अल्पता का रोना पूरा होने का नही। व्यक्ति यो कहता है, कि—थोडे साधन जुट जाय तो अवश्य धर्म-साधना मे समय दूगा। पर विचार करो, सम्प्रति साधन बढे हैं या घटे हैं? और ज्यों-ज्यो साधनो की वृद्धि हुई त्यो-त्यो धर्म की रुचि बढी है, कि—कुछ और बढा है? पहले शुजालपुर बसा कि मण्डी? शुजालपुर पहले बसा और मण्डी बाद मे? यहां कवेलू वाले कितने घर दिखाई देते हैं और मण्डी मे? मण्डी मे विरले ही घर कवेलू के दिखाई देते हैं। यह तो सामान्य उदाहरण है। परन्तु, आप बताइये पहले से साधन बढे हैं न? आप स्वीकार करें या न करें, परन्तु मुझे लगता है, कि—पहले से सुख-साधनो की वृद्धि हुई है। तो फिर धर्म-साधना मे कितनी वृद्धि हुई है? आपके पूर्वज ज्यादा धर्म साधना करते थे, कि—आप? अतः यह समझना भूल है, कि—साधनो की वृद्धि मे धर्म-तत्परता की वृद्धि होती

है। इसके विपरीत—वैभव-वृद्धि धन-लिप्सा जगाकर, मनुष्य को धर्म-साधना से दूर हटाती है। मनुष्य धन से कब तृप्त हुआ है। सौ हो तो हजार, हजार हो तो लाख की चाह जगती रहती है। चक्रवर्ती की भी यही स्थिति है। छह खण्ड का राज्य प्राप्त हो गया। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। सातवाँ खण्ड साधने की इच्छा हुई। इच्छा का क्या छोर है?—

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे ।
सिया हु केलास समा असखया ॥
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि ।
इच्छा हु आगाससमा अणतया ॥

सोने-चाँदी के असख्य पर्वतो के प्राप्त हो जाने पर भी लोभी मनुष्य को सन्तोष नही होता है। आकाश का छोर हो तो इच्छा का छोर हो।

मानव धन को दुर्लभ समझता है। किन्तु ज्ञानी की दृष्टि मे धन दुर्लभ नही है। दुर्लभ है तो बोधि। जिसने सम्बोधि पाली उसने सब-कुछ पा लिया।

सम्बोधि की प्राप्ति मे प्रयत्न

जीव भौतिक पदार्थो को पाने के लिए कितना प्रयत्न करता है। फिर भी उसकी भूख नही मिटती। बाह्य साधनो को पाने के लिए जीव जितना प्रयत्न करता है, क्या उसके शतांश जितना भी प्रयत्न ज्ञान पाने के लिए करता है? नहीं। परन्तु स्वय के प्रयत्न के बिना ज्ञान प्राप्त नही हो सकता है। जो समझने की चेष्टा ही नही करता है उसे कौन समझा सकता है। चार मुख वाले ब्रह्मा मे भी यह शक्ति नही है, कि—उसे समझा सके। अभी तक जीव, जिसे समझना चाहिए, उस ओर उदासीन रहा। विमुख रहा। भगवान् पार्श्वनाथ सम्बुद्ध आत्मा थे। उन्होने प्रयत्न किया और पाया। उन्होने प्रयत्न कब किया?—जब उन्होने ज्ञान को दुर्लभ

समझा और समझा–कि, वह बहुमूल्य है। जीव की भ्रान्ति विकट है, जिससे सत्प्रयत्न नही कर पाता।

बहुमूल्य किसे समझा है?

ज्ञानी कहते हैं–संसार के वैभव की कीमत कौडी की भी नही है। पर अज्ञानी जीव मानता है, कि–मेरा यही जीवन-सर्वस्व है। जिस ज्ञान से जीव कृतकृत्य हो सकता है–परमात्मास्वरूप बनकर अनन्त आनन्द मे लीन हो सकता है, उसकी ओर से आँखे मीच लेता है–पीठ फिरा लेता है और उसे कौडी के मूल्य का समझकर ठोकरो से उडा देता है। इसीलिए ज्ञानी जन उसे जगाने के लिए पुकार-पुकार कर कहते हैं—

सबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।

जागो! समझो! क्यों नही समझते हो? अभी तक कांच के टुकडो को ही अनमोल समझकर बटोरता रहा। मिट्टी के ढेलो के लिए लडता रहा। जो तुच्छ हैं उन्हे सार समझता आया। ककर-पत्थर के बढने मे अपना गौरव माना। क्या हैं-ये रत्न, हीरे, सोना और चांदी? पृथ्वी-काय के ही तो छोड़े हुए शरीर हैं। ज्ञानी कहते हैं–चाहे सातवी नरक के तले के पुद्गल हो या सर्वार्थ सिद्ध विमान के बहुमूल्य मोती हो, सभी पुद्गल समान हैं–समान धर्म वाले हैं। अत वे कहते हैं, कि–पुद्गलो के बन्दी मत बनो। ये हितकर नही है! बहुमूल्य नही हैं! तरण-तारण नही हैं। समझो! समझ ही दुर्लभ है–बहुमूल्य है।

क्या यह वैभव साथ देगा?

जिस वैभव के पीछे व्यक्ति-पागल होकर दौड रहा है, जिसके लिए कैसी-कैसी विचित्र-स्थितियो से गुजरता है, कितना कलह करता है, कैसे-से

कैसे दुःख सहता है और कितने-कितने विपरीत कार्य करता है, जिसकी सुरक्षा के लिए कितने प्रवन्ध करता है, कितने जागरण करता है, क्या वह, वैभव-यहा से जाने के समय-सव साथ ले जाता है? जाते समय वह अश्रु भरे नयनो से निराशा से देखता रह जाता है।

ऐक अनाथ-सा किशोर था। माता-पिता मर चुके थे। वैभव नष्ट हो चुका था। रहने के लिए नाम मात्र का घर था। मकान गिर कर खण्डहर हो चुका था। एक-दो कमरे ही ठीक हालत मे थे। लडका पढा-लिखा था नही। दर-दर की ठोकरें खाने लगा। लोग उसे 'गेलिया' सज्ञा से पुकारते। कुछ पागलपन था तो कुछ पागलपन उसने जान-बूझकर ओढ़ लिया। पर उसमे एक अच्छी वात थी। कोई भी सन्त-मुनिराज गाव मे पधारते, तो वह उनके पास अवश्य जाता। उनकी बातें ध्यान से सुनता। एक वार नगर के प्रतिष्ठित सेठ की दृष्टी उस पर गिरी। अपना जातिवन्धु समझकर, अपने पास वुलाया और पूछा—

'तुम रोटी कहाँ खाते हो?'
'जहाँ भी मिले, खा लेता हू।'

सेठजी ने उसे हित शिक्षा दी—'देखो, तुम मेरे यहां आया करो। कुछ काम किया करो। तुम्हे भोजन आदि जो वस्तु चाहिए यहां से ले लिया करो।'

अव वह काम करने लगा। पानी भर देता। अनाज की सफाई कर देता। वर्तन भी माँज देता। कई जगह काम करने लगा। कडी मेहनत करता और उसके वदले में पैसे लेता। दिन भर में कितने ही पैसे कमा लेता। पर, हाल यह था, कि-रोज को कमाई रोज खर्च कर देता था। अच्छा खाता। अच्छा पहनता। फिर भी पैसे वचते, वे किसी जरूरतमन्द को दे देता। उसकी यही आदत वन गई। लोग उसे इस विषय मे कुछ

कहते भी तो 'ऊँह' कहके बात टाल देता। लोग कहते–'आखिर गेलिया ही है।'

एक दिन सेठजी ने उसे अपने पास बुलाया। उसका आनन्द-मगल पूछा और कहा–रोज का कितना कमा लेते हो भाई !' वह बोला–'सेठजी ! मैं तो हिसाब नही रखता हू। जो भी मिला ले लिया। उसमें से कुछ अपने लिए खर्च कर देता हू और कुछ दूसरे के लिए–जिसे जरूरत हो-दे देता हू।

सेठ बोले–'मेरी समझ से तू दो-चार रुपये तो कमा लेता होगा ?'

गेलिया हसकर बोला–'हाँ ! इससे ज्यादा ही हो जाता होगा ? पर हिसाब कौन रखे ?'

सेठ ने उसका हाथ पकड़कर कहा–'देख, इतना पागलपन मत रख। मैं तुझे हित की बात कहता हूं। कुछ रुपये-पैसे इकट्ठे कर। सब ही मत खर्च कर डाल।'

गेलिया–'पैसे इकट्ठे करने से क्या होगा ?'

सेठ–'उन रुपयो से छोटी-मोटी दुकान खोल लेना। व्यापार बढेगा तो लाभ भी बढेगा और रुपये तेरे पास हो जायेंगे। तेरा आदर होगा लोगो मे।'

गेलिया–'सो तो अभी भी होता है। लोग मुझसे हँसकर बोलते हैं।'

सेठ–'नहीं समझा तू ! आदर बढेगा तो कोई तुझे लड़की दे देगा। शादी हो जाएगी।'

गेलिया–'पर शादी होने से क्या होगा सेठजी ?'

सेठ–'तुझे गर्म-गर्म रोटियाँ मिलेंगी।'

गेलिया–'मैं तो अभी भी गर्म खाना खाता हूं। पर ज्यादा गर्म खाने से हाथ-मुँह जल जाते हैं। हाथ-मुँह जलाने को क्यो करें इतना प्रपन्च ?'

सेठ—'अरे पगले ! इतना भी नही समझा। तेरे बाल-बच्चे होंगे। बुढ़ापे मे सेवा करेंगे।'

गेलिया—'सेठजी ! ऐसी-कैसी सलाह देते हो। मैं क्यो किसी से सेवा करवाऊँ ? मैं क्यो बूढा होऊँ ? देखते नही हो कस्तूरी मा को ! जिनके पाँच-पाँच बेटे हैं। पोतो के घर बेटे हो गये है। पर, बेचारी अकेली रहती है और हाथ से रोटियाँ सेक कर खाती है।'

सेठजी—'सब के बेटे ऐसे थोड़े होते है !'

गेलिया—'किसके बेटे कैसे होगे सेठजी ! क्या मालूम ! मुझे यह सौदा बहुत मँहगा मालूम पड़ता है। मैं तो ऐसा घाटे का सौदा नही कर सकता।'

सेठजी-झुंझलाकर बोले—'आखिर तू गेलिया का गेलिया ही है। कैसे समझाऊँ तुझे ?'

वह हँसता हुआ चला गया।

कुछ दिन बाद सेठजी रुग्ण हो गये। वृद्धावस्था थी। अब उन्हे स्वस्थ होने की आशा नही रही। शय्या पर पडे-पडे मृत्यु से सघर्ष करने लगे। घर के लोग अपने काममे लगे रहते। वे चुपचाप लेटे-लेटे विकल्पो की धारा मे बहते रहते। उन्हे अपने आप पर ग्लानि होने लगी। कभी-कभी वह गेलिया उनके पास आ जाता। वे उसकी निश्छल बातो से अपने मन को बहला लेते थे। एक दिन जब वह आया, तब उसने सेठजी को बहुत उदास पाया। उसने पूछा—'आज आप बहुत सुस्त हैं, क्या बात है।'

सेठ—'भाई ! काल का बुलावा आ गया है। अब यहाँ से जाना पड़ेगा।'

गेलिया—'तो उदास क्यो हो रहे हैं ? यदि आपका जाने का मन नही है तो खबर भेज दो—मैं नही आ सकूँगा।'

सेठजी—'भाई ! वहा खबर नही भेजी जा सकती और उसका बुलावा टाला भी नही जा सकता ।'

गेलिया—'ऐसी बात है ! जाना ही पड़ेगा ! पर फिक्र क्यो कर रहे हो ? भैया से कह दो—वे सब तैयारी करवा देंगे। डेरा,-तम्बू, सवारी सेवक-सेविकाएं और प्रवास का सब प्रबंध कर देंगें। भैया से कहें तो वे भी साथ चले चलें।'

सेठजी—'मूर्ख है तू ! ये कैसे जायेंगे साथ मे ?'

गेलिया—'अच्छा ! ये नही चल सकते हैं, तो सेठानीजी से ही कह दो, वे ही साथ चले। वे तो आपका हुक्म नही टालती हैं। उनसे कहेगें तो चेकबुक और उनके गहने साथ ले लेंगी। वहाँ आगे काम आयेंगें।'

सेठजी—'अरे भाई ! वहाँ कोई भी साथ मे नही आ सकता है। यहाँ से एक सलाई भी संग मे नही ले जा सकते हैं।'

गेलिया—'अच्छा ! एक सलाई भी साथ नही चल सकती है। यह सब आपकी मालिकी का धन हैं। यह सब कुटुम्ब आपका है। क्यो नही चल सकते—ये आपके संग ?'

सेठजी झुंझलाकर बोले—'तू पागल ही है ! समझ नही रहा है। क्या मरने पर ये सब चीजें संग जाती होगी ? तू खुद जो भजन गाता है, उसकी वह कड़ी भूल गया है क्या—

डेली तक तिरिया का नाता, पोली तक माता।
मरघट तक ही चले संगाती, हंस अकेला जाता ॥
देखो रे लोको ! भूल-भुलैया का तमशा ॥

यहं यह जीव भूल-भुलैया मे पड जाता है। पर, भाई ! परलोक मे हंस अकेला ही जाता है। यहाँ का परिवार और समस्त वैभव यहीं छूट जाता है।'

गेलिया पहले तो हसता रहा। फिर गंभीर हो कर बोला—सेठजी ! अब विचार करो—पागल मैं हू या आप हो। आपने जिन्दगी भर तक ऐसे पदार्थों का सग्रह किया और ऐसों के सग मोह रखा, जो साथ मे कदापि चल नही सकते है। क्या इनको छोडकर जाने का दु ख सग ले जाने के लिए ही इन्हे सग्रह किया था—इन पर मोह रखा था ? मैं पागल नही हू सेठजी ! लोगो ने मुझे पागल कहा तो मैंने पागलपन ओढ लिया। मैंने बचपन से संतो की वानी सुनी है। साधु बनने की योग्यता तो मुझमे थी नही। अपनी मस्ती मे जी रहा हू—कमाता हुँ—अपने शरीर के लिये और दान देता हू—परलोक बैंक मे जमा करने के लिए।'

सेठजी आश्चर्यचकित उसकी ओर देखने लगे। वे धीरे-से दु ख भरे स्वर मे बोले—'भाई ! तुम जीत मे रहे और मैं हार मे रहा। तुम्हारा जीवन-दर्शन सत्य है। इस सत्य के दर्शन प्राय मौत के मुख मे पड़े हुए जन को बड़े कड़वे रूप मे होता है। तुमने इस सत्य को पहले ही देख लिया और तुमने इसे मधुर बनाकर, मस्ती से अपने जीवन मे उतारा। तुम्हारा सच्चा रूप तो मैंने आज देखा। सचमुच मे तुम जीते। मैं हारा।'

गेलिया—'सेठजी ! आप मृत्यु-शय्या पर हैं। मैं आपको चिढाने के लिए यह सब नही कह रहा हूं। आप मेरे हित-चिन्तक हैं। आपने एक दिन मुझे शिक्षा दी थी। मैंने वह शिक्षा नही मानी थी। पर, मैं आज उसका रहस्य खोल रहा हू। मैंने कहा था—'मैं क्यो किसी से सेवा करवाऊँ।' इसका क्या कारण ? शाता-अशाता जो भी आएगी—वह तो भोगनी ही पडेगी। मैं कसकर महनत करता हूं, अभावो मे भी आनन्द मानता हू तो मुझे अशाता क्या सता सकेगी। समाधि-मरण की भावना करता हू—नित्य मरणभय को जीतने का अभ्यास करता हू तो गफलत मे क्यो मरूँगा ? सेठजी जगत् के प्रति जो आपकी दृष्टि है, उसमे छाया हुआ जो भ्रम का धुंधलापन है, उसे हटाने के लिए मैंने ये सारी बातें कही है।'

सेठजी की आंखो मे चमक आ गई। उनके भ्रम के बादल छँट गये। उन्हें नये सत्य का दर्शन हुआ। अभी तक वे मरणभय से दबे जा रहे थे। अब निर्भय हो गये। इस नये आलोक मे उन्हे अपना कर्तव्य-मार्ग सुस्पष्ट दीख रहा था। वे किस समय उठकर, बैठ गये—इसका उन्हे अहसास नही हुआ। वे एक टक गेलिया की ओर देख रहे थे। उन्हें वह एक सन्त के रूप मे दिखाई देने लगा। उनकी मानसिक व्यथाएँ गल-गलकर बहने लगी।

उन्हें अनुभव हुआ—'अन्तिम समय मे सही समझ ही साथ देती है—भौतिक-पदार्थों की ममता नही।'

व्यक्ति कहता है और करता क्या है ?

अब हम आपसे पूछें—'सच्ची समझ सद्धर्म कीमती है या धन ?'—तो आप क्या उत्तर देंगे ?

(श्रोता की ओर से—कहेगें तो धर्म को ही कीमती)

हाँ ! व्यक्ति यही कहेगा—'धर्म ही कीमती है।' परन्तु उसके व्यवहार से यह बात प्रकट होती है क्या ? व्यक्ति जो भी यह सारा कार्य कर रहे हैं—किसके लिए कर रहे हैं ?—देह के लिए, इन्द्रियो के लिए और अपने कुटम्बियो के लिए ही न ? धर्म के लिए क्या कर रहे हैं ? अन्य कार्य तो आप विना कहे कर लेते हैं। किन्तु धर्म कार्य मे आप किसी के कहने की—बुलावे की राह देखते हैं। धर्म का कितना गौरव समझा है ? क्या कोई डंडा लेकर, पीछे पड़े तो ही आप सामायिक आदि धर्म कार्य करेंगे। डंडे के वल से कौन चलता है ? पशु। हम तो आपको मानव ही समझते हैं—पशु नही। हमे भी पशु के प्रेरक बनना पसन्द नही। पर कोई पशु बनना ही चाहे तो हमारे पास इसका क्या इलाज ?

यहाँ आते हैं तो महाराज पर उपकार करने तो नही आते हैं--ऐसी समझ लेकर तो नही आते हैं। यदि यह समझ लेकर आओगे तो यहाँ से कुछ पाना कठिन है और यदि मन मे ऐंठन भर जाएगी। यदि अपने लिए पाने की आशात से--अपने हित के लिए आए होगें तो कुछ पाकर जाएँगे। जो उत्तम बात है--उसे आप भी लो और दूसरो को भी दो। दूसरो को ही नही, अपनी सन्तानो को भी दो।

महाराज के भय से, लोक-भय से या डडे के बल से चलने वाले कार्य ज्यादा स्थायी नही हो सकते है। अपने आत्मा मे अपने हित की बात करने की न उगी तो कोई महाराज भी आपसे क्या करवा सकेंगे। महाराज रहे, वहाँ तक उनके भय से करते रहे और फिर इधर महाराज ने पीठ फेरी और उधर सब समाप्त। इसीलिए सही समझ-सम्बोधि का महत्व है। सच्ची समझ ही जीव के लिए सत्कार्यो को सच्ची प्रेरक है। जब आत्मा अन्तरग से--ऊपर-ऊपर से नही, बिल्कुल भीतर से-गहराई से धर्म का वास्तविक मूल्य समझ लेगा, तब उसकी कथनी और करनी मे इतना अधिक अन्तर नही रहेगा। परिस्थितिवश कदाचित् वह साधना-धर्मक्रिया न कर पाएगा तो करने की ललक और नही करने का खेद अवश्य रहेगा और ये भाव ही उसके प्रेरणा-स्रोत बनेंगे।

कथनी मे धर्म कीमती है, पर हृदय मे धर्म कीमती जँचेगा तो व्यवहार मे भी वह बात प्रकट होगी।

चक्कर ही चक्कर हैं

जीव अनादिकाल से चौरासी के चक्कर में फँसा हुआ है--ऐसा हम ज्ञानियो से सुनते हैं। चक्कर मे क्यो पडा हुआ है? इसका वे कारण बतलाते हैं--सही समझ का अभाव और सद्बुद्धि और सत्क्रिया की पकड़ का

त्याग। जीव छह काया से आया है। छह काया मे ऊपजा है और छह काया मे मरा है और इनमे ही चक्कर लगा रहा है।

एक नगरी का एक ही द्वार था। लोग उसी से बाहर-भीतर आते-जाते थे। एक अंधा था उस नगरी में। वह नगर से बाहर जाना चाहता था। पर उसे कौन बताए ? वह लोगों के सामने गिडगिड़ाने लगा। पर कोई इतने चक्कर खाने को तैयार नही हुआ। एक भले मनुष्य ने यह सारा दृश्य देखा। उसे अन्धे पर दया आई। वह उसके पास आया और बोला—'देखो बाबा ! इतनी दूर तो मैं नही आ सकता हूं। किन्तु नगर के बाहर जाने की तुम्हे एक युक्ति बतला देता हू।'

उसने अन्धे का हाथ पकडा और उसे नगर की दीवार के सहारे लगाकर बोला—'इस दीवार के सहारे चले जाओ। तुम्हे द्वार मिल जाएगा।' अन्धा दीवार को पकड़कर चल पड़ा।

अन्धा दरवाजे तक पहुंच गया। उसे खुजली आने लगी। वह खुजलाने लगा। दीवार का सहारा छूट गया। खुजलाने मे दरवाजा निकल गया। फिर उसने दीवार पकड़ ली। घूमता-फिरता पुन दरवाजे तक आया और इसी प्रकार खुजली मे दरवाजा निकल गया। यदि इसी प्रकार वह खुजली के चक्कर मे पडा रहे तो क्या जिन्दगी भर तक भी नगरी के चक्कर लगाता हुआ कभी नगर के बाहर हो सकता है ?

इसीलिए ज्ञानी कहते हैं—'सवुज्झह ! किं न वुज्झह' जागो ! समझो ! क्यो नही समझते हो ? यह उत्तम अवसर मिला है। यदि इस समय वैषयिक खुजली मे, सद्गुरु के द्वारा पकडाई हुई शुभ क्रिया की-सत्संग की-पकड छोड़ दोगे तो चौरासी से निकलने का और मोक्ष मार्ग मे प्रवेश करने का द्वार—सम्बोधि, सही समझ का स्पर्श नही हो सकेगा और फिर तो बस ये चक्कर ही चक्कर शेष रहेंगे।'

सम्बोधि: आत्मोत्थान की नींव और शिखर-सर्वज्ञता

सम्बोधि के विना आत्मा का उद्धार नही है। भगवान् श्री पार्श्वनाथ के जीव ने सम्बोधि प्राप्त की। उस ओर सूत्रकार महर्षि सकेत कर रहे हैं–'सबुद्धप्पायसव्वन्नू'–वे सम्बुद्ध आत्मा और सर्वज्ञ थे। जैसे मन्दिर नीव के आधार से स्थित रहता है और शिखर उसकी शोभा मे वृद्धि करता है। वैसे ही साधना-मन्दिर की नीव सम्बोधि है और शिखर सर्वज्ञता है। नीव और शिखर के कथन से मन्दिर का वोध हो जाता है। इसी प्रकार 'सम्बुध्द' और 'सर्वज्ञ'–इन दो विशेषणो के द्वारा भगवान् का साधना-काल गृहीत हो जाता है अर्थात् साधना के प्रारम्भ से लगाकर, साधना के फल की प्राप्ति तक का सारा क्रम पकड मे आ जाता है।

भगवान् ने सर्वज्ञता रूप फल प्राप्त किया और अर्हद्दशा रूप मे विकसित हुए। उनका यह विकास कैसे हुआ ? वे भी हमारे जैसे ही कषाय-मल से लिप्त जीव थे। उनमे भी दुर्वलताएँ थी। फिर वे परमात्मा कैसे बन गये ? इसका उत्तर हमे प्राप्त हो जाता है–उनके चरित्र-ग्रन्थो मे।

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व भव

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित्र बहुत वडा और रसप्रद है। दस भवों का विवरण है। भगवान् पार्श्वनाथ का और कमठ का जीव, नव भव पूर्व दसवें भव मे, दोनो ही सगे भाई थे। राजा अरविन्द के पुरोहित थे। कमठ वडा भाई और पार्श्वनाथ भगवान् का जीव छोटा भाई था। बडे भाई ने छोटे भाई की स्त्री पर मुग्ध होकर, उसके साथ दुष्कर्म करना प्रारम्भ किया। बडे भाई की स्त्री ने यह सब देख लिया। उसने अपने देवर को ये सारी वातें दिखा दी। वह बहुत ही क्षुब्ध और क्रुद्ध हुआ। छोटे भाई ने जाकर, राजा से शिकायत कर दी। राजा के समझाने पर भी जब कमठ नही माना, तब राजा ने उसे वहाँ से निकाल दिया। कमठ

रोषाविष्ट होकर, इधर-उधर परिभ्रमण करने लगा। तापसो के संयोग से वह तापस बन गया।

एक बार तपस्वी कमठ अपने नगर मे आया। वह घोर तप कर रहा था। यह बात कमठ के छोटे भाई ने सुनी। उसके मन से दुर्भाव दूर हो गया। उसने सोचा—'मैंने बड़े भाई की दुरवस्था करवाई थी। अब तो तापस बन गये हैं। उनसे वैर रखना उचित नही है। उनसे क्षमा-याचना कर आऊँ।' वह कमठ के पास गया और प्रणाम करके क्षमा-याचना करने लगा। उसे देखकर, कमठ क्रोध से अभिभूत हो गया। यह क्षमा मागने के बहाने मुझे दग्ध करने आया है। इसके कारण ही मेरी दुर्गति हुई। मैं घर का रहा न घाट का। उसने गुस्से मे बडा पत्थर उठाया और प्रणाम करने के लिए झुके हुए भाई के सिर पर दे मारा। छोटे भाई का शिर फट गया। आर्तध्यान मे प्राणान्त हो गया। वहाँ से मरकर जगल मे हाथी की योनि में उत्पन्न हुआ। इस घटना का हाल जब आश्रमवासियो के पास पहुचा तब उन्होने कमठ को आश्रम से निकाल दिया। भाई के प्रति वैर की ग्रन्थि निबिड हो गई। कुछ समय तक वह भटकता रहा। फिर दुर्ध्यान मे मरकर, उसी वन मे कुक्कुट जाति के सर्प की योनि मे पैदा हुआ।

राजा अरविन्द को ससार से विरक्ति हो गई। वे दीक्षित बनकर, साधना करने लगे। जिसके फलस्वरूप उन्हे विशिष्ट कोटि का ज्ञान हो गया। वे उस वन मे विचरण कर रहे हैं। उनके पुरोहित का जीव वह हाथी उधर से निकला। वह अरविंद मुनि पर झपटा। अरविंद मुनि ने सम्बोधन करते हुए कहा—'अरे! तू क्या से क्या हो गया। नर से पशु बन गया।' तू मुझे नही पहचानता है?' अरविंद मुनि के वचनो को सुनकर वह एकदम शान्त हो गया। वह एक टक अरविंद मुनि को निहारने लगा। उसे विचार हुआ—'इन्हे मैंने कही देखा है। ऐसी वाणी कही सुनी है।' इस प्रकार विचार करते हुए उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। वह मुनि को पहचान गया। हाथी ने मुनि को प्रणाम किया।

महामुनि अरविंद ने हाथी को प्रतिबोध दिया। हाथी भावो में विहार करने लगा। उसे ज्ञान प्राप्त हुआ। वह भक्तिभाव से गद्‌गद् हो गया। उसने मनोयोग से व्रत धारण किये। हाथी देशव्रती हो गया। मनुष्य भव मे बिगड़ी हुई बात को पशु भव मे सुधार ली। महामुनि तो चले गये। हाथी अपने व्रतो को निर्मलता से पालने लगा। उसकी चर्चा का विस्तृत वर्णन ग्रन्थकारो ने किया है। वह रौंदे हुए अचित्त मार्ग से चलता था। धूप या मिट्टी से अचित्त बने हुए जल को ग्रहण करता था और अचित्त आहारादि को ढूँढकर सेवन करता था। एक दिन उस कुक्कुट जाति के सर्प से भेंट हो गई। वह हाथी को देखते ही वैर से आक्रान्त हो गया। उसने हाथी को डॅस लिया। बार-बार काटकर हाथी को बहुत कष्ट दिया। हाथी ने शान्त भाव से अनशन करके देह त्यागी और स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

अन्य भवों मे क्रमशः साधना करते हुए, दसवें भव मे वाराणसी नगरी मे अश्वसेन राजा के यहाँ महारानी वामादेवी की कुक्षि से तीर्थंकर रूप मे जन्म लिया। गर्भ मे ही तीन ज्ञान साथ लेकर आये। कम से कम तीन भव तक तो बोधि साथ ही रही। इस भव मे भी तीस वर्ष की वय मे उत्कट वैराग्य से दीक्षित बनकर, कुछ दिनो तक उत्कट साधना की। उपसर्ग सहे और एक दिन वीतराग सर्वज्ञ हो गये। इस प्रकार उन्होंने विकास साधा। जब उन्होने हाथी के भव मे ज्ञान की कीमत समझी तब उसका यत्न किया। बिना कीमत समझे व्यक्ति हीरे को भी काँच समझकर फेंक देता है। इसीलिए ज्ञानीजनो की यही पुकार है—

'संबुज्झह ! किं न बुज्झह'

जिसे उत्तम श्रद्धा प्राप्त हो जाती है वही उत्थान साध सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन की पहली गाथा में आये हुए, भगवान पार्श्वनाथ के विशेपणो पर विवेचन चल रहा है—'सम्बुद्धप्पा य सव्वन्नू'

—भगवान् श्री पार्श्वनाथ सम्बुद्ध आत्मा और सर्वज्ञ थे।

प्रमात्मदशा का बीज

भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने अपनी ज्ञान की दशा को जगा लिया था। विवेक अपनी आत्मा मे वसा लिया था। उस सवोधि के वल से विकास साधते हुए, उन्होने उसके फलस्वरूप सर्वज्ञत्व को प्राप्त कर लिया। वे जन-जन में आत्मवल का जागरण मत्र फूँकने लगे और जनता के लिए परम आदर्श-परम आराध्य वन गये। वास्तव मे सम्वोधि परमात्म-दशा का बीज है। जिन आत्मा मे सम्वोधि रूप बीज गिर गया, वह आत्मा धन्य वन गया। एक दिन उसे वह परम श्रेष्ठ फल अवश्य प्राप्त होता है, जिसे पाकर कुछ भी पाना शेप नहीं रहता।

कैसा माहात्म्य है, इस सम्वोधि का—सम्यक्त्व का। जिसे इसकी एक वार एक पल के लिए भी झलक प्राप्त हो जाती है—वह जीव निहाल हो जाता है—धन्य वन जाता है और एक दिन परमात्मा वन जाता है। सम्यक्त्व ही जीव के उत्थान का परम श्रेष्ठ हेतु है।

सम्वोधि जीव के उत्थान में जितना प्रवल और प्रमुख हेतु है, उतना ही दुर्लभ है,—उसे प्राप्त करना। कदाचित् यत्किञ्चित् अन्तर-पुरुषार्थ के जागृत होने पर सम्वोधि प्राप्त हो जाती है तो उसे सभाल कर-सहेज कर रखना मुश्किल है। उसकी प्राप्ति के वाद विकास साधने के लिए सतत साधना की आवश्यकता रहती है। यद्यपि कोई-कोई जीव, सम्वोधि प्राप्ति के पश्चात् तुरन्त ही, अन्तरग पुरुषार्थ को प्रवल-प्रवलतम करके साध्य को

सिद्ध कर लेते हैं, तदपि सब जीवो के लिए ऐसा क्रम नही है। अधिकाश जीवों को सम्बोधि-प्राप्ति के पश्चात् विशेष साधना करना पड़ती है। यदि साधना के पुरुषार्थ की जागृति मे पूर्व ही, तद्‌रूप कर्मो के उदय होने पर सम्बोधि विलीन हो गई, तो अनन्त काल तक के लिए उसका वियोग हो सकता है। हाँ! यह बात अवश्य निश्चित है, कि—जिसने पल भर के लिए भी सम्बोधि पाली, वह अधिक से अधिक देश न्यून अर्द्ध पुद्‌गल-परावर्तन जितने काल मे परमात्म पद प्राप्त करेगा ही।

अपार्द्ध पुद्‌गल-परावर्तन काल

पुद्‌गल—परावर्तन काल किसे कहते हैं? जितने भी ससार मे परमाणु है, उन सब परमाणुओ को, जीव स्कन्ध रूप मे, शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्‌वासपने ले-लेकर छोडे, उसे पुद्‌गल-परावर्तन कहते हैं और उन सम्पूर्ण पुद्‌गलो को ग्रहण करके छोडने मे जितना काल लगता है, उसे पुद्‌गल-परावर्तन काल कहते हैं। उससे आधे काल को सामान्यत अर्द्ध पुदगल-परावर्तन काल कहा जा सकता है। परन्तु शास्त्रज्ञो का कथन है, कि—यहाँ इस अर्द्ध पुद्‌गल—परावर्तन काल को ग्रहण नही किया गया है। सात प्रकार के पुद्‌गल-परावर्तन मे से वैक्रिय-पुद्‌गल-परावर्तन मे सबसे अधिक काल लगता है। उस वैक्रिय-पुद्‌गल-परावर्तन के काल का अर्द्ध काल यहाँ ग्रहण किया गया है। उस अर्द्ध काल मे कुछ कम होने पर देश-न्यून अर्द्ध-पुद्‌गल-परावर्तन काल या अपार्द्ध पुद्‌गल-परावर्तन काल होता है। इस अपार्द्ध पुद्‌गल-परावर्तन काल मे भी अनन्त-अनन्त काल-चक्र व्यतीत हो जाते हैं। परन्तु अभी तक जीव ने जितना काल अज्ञान मे व्यतीत किया है, उसकी तुलना मे यह काल नगण्य-सा है। भगवान पार्श्वनाथ को विकास-साधना मे इतना काल नही लगा। उन्होंने हाथी के भव के बाद ९ वें भव मे ही सम्बोधि के चरमोत्कर्ष को साध लिया परमात्म-पद को प्राप्त कर लिया।

सम्बोधि-आत्म-तत्त्व की प्रतीति

सम्वोधि की प्राप्ति के पश्चात्, सम्बोधि का अभाव न हो—सम्बोधि निरन्तर बनी रहे तो विकास की गति तीव्र हो सकती है। सम्बोधि अर्थात् आत्म-तत्त्व की प्रतीति। आत्म-तत्त्व को सम्यग् रूप से समझ कर, उसमें गाढ विश्वास धारण करना ही आत्म-प्रतीति है। आत्म-तत्त्व की समझ अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप और उसकी उपलब्धि के उपायो की आत्म-गतता का ज्ञान। उस आत्म-ज्ञान मे निष्कम्प निर्णय ही आत्म-प्रतीति है। कहा गया है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोइ सिद्ध होय।
कर्म-मैल का आँतरा, बूझै विरला कोय॥

—जीव सिद्ध के समान है—परमात्म स्वरूप ही जीव का निज स्वरूप है औरजीव ही सिद्ध होता है। जिसमे जीवत्व नही है वह सिद्द हो ही नहीं सकता। जीव और सिद्द मे भेद केवल कर्म का है। जो जीव कर्म रूपी मैल से मुक्त हो गये है—शुद्द हो गये हैं वे सिद्द परमात्मा हैं और जो कर्म रूपी मैल से सने हुये हैं—अशुद्द हैं, वे ससारी जीव हैं। जीव और सिद्द के इस भेद को कोई विरले ही समझ सकते हैं।

जिसे जीव मे—जीव के निर्मलत्त्व मे—सिद्धत्त्व की आस्था हो गई, उसे सिद्धत्व का उपाय भी प्राप्त हो गया समझो। यह आत्म-प्रतीति साधक का महत्त्वपूर्ण गुण है। यह गुण-आत्म-प्रतीति साध्य-प्राप्ति के पश्चात् भी निवृत्त नही होता है— जैसे बीज से वृक्ष हुआ--किन्तु बीज बिल्कुल ही नष्ट नही हुआ—वृक्ष मे बीजत्व है या पहली कक्षा मे पढी हुई वर्णमाला विशेषज्ञ (डाक्टर) बने जाने पर नष्ट-विस्मृत नही होती—किन्तु विभिन्न ढग से उसका उपयोग होता रहता है। वैसे ही आत्म-प्रतीति निश्चय सम्बुद्ध दशा परमात्मा दशा मे भी बनी रहती है। इसी कारण यहाँ

भगवान पार्श्वनाथ के विशेषणो मे सम्बुध्दात्मा विशेषण सूत्रकार महर्षि ने रखा। इस बीज रूप भाव-सम्बोधि का उल्लेख करके, उसके पश्चात् ही अन्तर-रहित सर्वज्ञत्वरूल फल का निरूपण किया और 'य' कार से इन दोनो के वीज की स्थितियो को ग्रहण कर लिया।

कर्म मैल का आंतरा: सर्वज्ञता

जीव की शध्द दशा ही परमात्म दशा है अर्थात् शुध्द जीव ही परमात्मा है। सर्वज्ञता जीव का निजगुणहै—स्वरूप है। परन्तु जहाँ तक मोह की मलिनता रहती है, वहाँ तक सर्वज्ञत्व गुण प्रकट नही हो सकता है। जैसे दर्पण के ऊपर रजकण छा गये हो तो चेहरा धुँधला धुँधला दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा तो उज्जवल है। लेकिन उस पर कर्म-रूपी रज छाई हुई हैं। जब तक कर्ममैल से आत्मा लिप्त है तब तक उसका निज स्वरूप प्रकट नही हो सकता है। दर्पण पर से रज को साफ कर देने से, उसमे वस्तुएँ भली-भाँति प्रतिबिम्बित हो जाती हैं। इसी प्रकार इस कर्मरूपी मैल ने आत्मा को आच्छादित कर रखा है, उसे मांजने से आत्मो-ज्जवलता प्राप्त हो सकती है। इस आत्मोज्ज्वलता की ऐसी विशेषता है, कि—उसमे सचराचर पदार्थ प्रतिविंवित हो उठते हैं। कर्म-धूलि की परत हटी, कि—आत्मा मे सकल द्रव्यो की भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन समस्त अवस्थाएँ एक साथ झलक उठती हैं।

अवाच्य स्थिति

सर्वज्ञता के स्वरूप को समझ के लिए सबसे अच्छा उदाहरण है—दर्पण का। जैसे दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आता है, वह उसमे प्रतिविम्बित हो उठता है। पदार्थ उसमे प्रविष्ट नही होता है, और न वह ही पदार्थो मे प्रविष्ट होता है किन्तु पदार्थ उसमे ज्यो का त्यो दिखाई देता

हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञ की आत्मा मे न तो वे पदार्थ प्रविष्ट होते है और न सर्वज्ञ की आत्मा ही उन पदार्थों मे प्रविष्ट होती हैं, किन्तु सर्व पदार्थ उनके ज्ञान मे यथा तथ्य दृष्ट होते है। दर्पण की उपमा अशत ही घटित होती है। क्यो कि दर्पण मे पदार्थ की वर्तमान-कालीन अवस्था ही दिखलाई देती है-भूत-भविष्य काल की नही, बाह्य रूप-रग ही प्रतिविम्बित होता है-आभ्यन्तर नही। परन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान की ऐसी स्थिति नहीं है। इसलिए उस परमात्मस्थिति को समझना सरल नही है। बड़े-बडे विद्वान की मति भी मूढ हो जाती है। अरे! सर्वज्ञो में भी इतनी शक्ति नही है, कि-परमात्मस्वरूप को छद्मस्थो को पूरी तरह से समझा दें। आचाराग मे कहा गया है—

तक्का तत्थ न विज्जइ।
मई तत्थ न गाहिया॥

वहा तर्क की पहुच नही है। वह स्वरूप, मति के द्वारा ग्राह्य नही है।

परमात्म-स्वरूप को कैसे समझें ?

जब परमात्म पद ऐसा अवाच्य है तो सभी वर्णन वृथा है। फिर यह इतना वर्णन क्यो किया जा रहा है? क्यो अज्ञान मे, यह और अज्ञान की वृद्धि की जा रही है? लोग को भ्रम मे क्यो डाला जा रहा है?-प्रश्न ठीक है। जैन दर्शन किसी भी बात को अपेक्षा से ही स्वीकार करता है। उसे किसी भी पदार्थ की एकान्तिक अनिर्वचनीयता स्वीकार नही है। अत परमात्मपद को भी विल्कुल अवाच्य या अगम्य रूप से नही मानता है। यदि परमात्मपद एकान्त रूप से अवाच्य हो-अगम्य हो तो साधक के लक्ष्य का निर्णय कैसे हो सकेगा और वह साधना-पथ मे स्थिरतापूर्वक आगे कैसे बढ़ सकेगा? यद्यपि सीमित बुध्दि के द्वारा अनन्त स्वरूप-असीम परमात्म

दशा-को पूर्णत: नही समझा जा सकता है, तदपि पूर्ण रूप की कुछ झलक तो बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होती ही है। बुद्धि भी परमात्मा के सर्वज्ञता-ज्ञान गुण का ही अश है—मलिन पर्याय है। भले ही मलिन पर्याय हो, पर पदार्थों को, अस्पष्ट रूप में ही सही, समझती तो है ही पर प्रश्न यह है, कि-परमात्म-स्वरूप को कैसे समझें ?

परमात्म-स्वरूप समझने से पूर्व जड और चेतनस्व और पर का भेद समझना चाहिए। जीव जड से भिन्न है। जीव मे इच्छा है—चेतना है, जड मे नही। जो जीव के स्वरूप को ठीक ढग से समझ लेता है, उसे परमात्मा का स्वरूप भी समझ मे आ सकता है—

निज गुण है जो जीव जी करो वणाते अनन्त।
संजोगी गुण टालने जी देखो सिद्ध महन्त।
मगलिक उत्तम शरणा चार ॥

जड या पर के निमित्त से भी द्रव्यो मे गुण और पर्याय उत्पन्न होते हैं। पर के निमित्त से होने वाले गुण-पर्यायो को वैकारिक गुण-पर्याय कहते हैं। उन्हें ही यहाँ संयोगी गुण कहा गया है। सयोगी गुण भी शुभ, अशुभ और मार्गगत यो तीन प्रकार के होते हैं। क्रोधादि जीव की ही मलिन पर्यायें हैं, किन्तु होती हैं—पर के निमित्त से ही। स्थावरत्व, सूक्ष्मत्व, विकलेन्द्रियत्व, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि अशुभ गुणपर्याय हैं और त्रसत्व, बादरत्व, पन्चेन्द्रियत्व, मनुष्यत्व, देवत्व, बल, सुजनता आदि शुभ गुण-पर्याय हैं अर्थात् अशुभ और शुभ कर्म के उदय से होने वाली जीव की अवस्थाएँ, शुभाशुभ परिणतियाँ और ससारगत क्षायोपशमिक भाव से उत्पन्न गुण—ये सब शुभाशुभ गुण-पर्याये हैं। क्षमा, दया, शील, सन्तोष, अनुकम्पा आदि मार्गगत गुण हैं। जिन गुणो के सेवन के बिना जीव स्वभाव मे-निज स्वरूप मे- आ नहीं सकता है, यद्यपि उन गुणो का स्वभाव स्थिति के पश्चात् अस्तित्व नही रहता है-वे गुण मार्गगत गुण हैं। ये तीनो ही प्रकार के

गुण-पर्याय सयोगज होते हैं, अत. ये जीव के ही गुण-पर्याय होते हुए भी जीव के निजी गुण-पर्याय नही है।

ऐसे सयोगी गुणो को टालने के पश्चात् जो निज गुण शेष रहते हैं, उन्हे अनन्त करो– कल्पना मे बुद्धि से उन गुणो की अनन्तता को देखो। वही सिद्ध दशा है–वही परमात्म-स्वरूप है।

जीव की मूल इच्छाएँ

हम उन निज गुणो को कैसे जानें ? जीव की इच्छाओ से ही उसके निज गुणो की पहचान हो सकती है। यो तो जीव की इच्छाओ का कोई पार नही है। किन्तु जीव की मूल इच्छाएँ कितनी है–इसका हम गहराई से विचार करेंगे तो हमे तथ्य का ज्ञान हो जाएगा।

जीव चाहता है, कि–मुझसे कोई बात छिपी न रहे–समस्त रहस्य अनावृत हो जायँ, मेरी शक्ति इतनी बढ़ जाय, कि–उसकी कोई सीमा न हो, मुझ तक दु ख कभी फटकने न पाए-मैं सदा सुखी रहू और मैं कभी न मरू-सदैव मेरा अस्तित्व बना रहे। ये चार इच्छाएँ ही जीव की मूल इच्छाएँ हैं। ज्ञान, शक्ति या वीर्य, सुख और जीवित की अनन्तता ही वह चाहता है। यो ये चारो इच्छाएँ भी एक इच्छा अनन्तता की चाह'–मे ही समाविष्ट हो जाती हैं। अथवा ये अनन्तता की इच्छा के ही चार भेद हैं। ये चारों भाव प्राण हैं। सामान्य ससारी जीव इन्द्रियों से जानता है, शरीरादि की दृढ़ता मे शक्ति का अनुभव करता है, सम-श्वासोच्छवास से निराकुलता रूप सुख की अनुभूति करता है और यथायुष्य मनुष्य, देवादि भवो मे स्थित रहता है। अतः सम्प्रति साधनो की सीमितता के कारण इन भाव-प्राणो की अनन्तता अप्रकट है–मर्यादित है। सिध्द परमात्मा मे ये भाव-प्राण अनन्त-रूप मे हैं–हमेशा के लिए, अनन्त काल के लिए। यो हम परमात्मा को समझ सकते हैं।

सर्वज्ञता और आप्तता निर्दोषता

हाँ, तो भगवान् पार्श्वनाथ सर्वज्ञ थे। सर्वज्ञ ही आप्त हो सकते हैं। आप्त अर्थात् सत्य तत्व के उपदेष्टा। जो तत्व-का उपदेशक हो, वह दूषणों से मुक्त और अतिशय ज्ञानी हो, तभी सत्य का—वास्तविक ज्ञान और चारित्र्य का-प्रसार एव प्रचार हो सकता है। सर्वज्ञ व्यक्ति मे ही पूर्ण निर्दोषता होती है। अत उनका उपदेश ही निर्दोष होता है। निर्दोष उपदेश से ही आत्मा का उद्धार हो सकता है। जिस उपदेशक के हृदय मे स्वार्थ छिपा हुआ है, काम, क्रोध आदि की दुर्गन्ध व्याप्त है और जो वस्तु स्वरूप को समझे बिना कल्पना तरगो मे वहता रहता है, उसका उपदेश आत्मा को तार नही सकता है, उसकी हित करने की भावना मे भी अहित की काली छाया मँडराती रहती हैं और उसकी ओर से होने वाली आत्मोद्धार की प्रेरणा भी संसार मे परिभ्रमण की हेतुरूप वन जाती है। जो किसी का सरक्षक, प्रेरक या पोपक है—उसमे यदि कोई दूपण हो तो वे अपने द्वारा संरक्षित, प्रेरित या पोपित मे भी दूपण उत्पन्न कर देते हैं।

एक गरीव वालक अपनी माँ के पास हठ कर रहा था, कि—'माँ! मुझे तिलपपड़ी खिला।' माँ दुखी होकर वोली—'वेटा! हम गरीव है। पेट भर रोटी भी हमे नहीं मिलती है तो तुझे तिलपपडी कहाँ से खिलाऊँ।' किन्तु वच्चा तो वच्चा ही है। वह क्या समझे-सधनता-निर्धनता को! वह हठ करता ही रहा। माँ उसे ज्यो-त्यो करके समझाती रही। वच्चा ऊपर से तो शान्त हो गया था। पर उसकी इच्छा मरी नही। तिल-सक्रांति का समय समीप आ रहा था। लोगो के घर मे तिलपपडी वन रही थी। जब वह वालक माधु अन्य वच्चो को 'तिलपपडी' खाते देखता तव वह उनकी ओर टुकुर-टुकुर ताकता रहता और उसकी इच्छा तव और तीव्र हो जाती। वह मन ही मन मे दुखी होता।

एक दिन माँ उसे बाहर आँगन में बिठाकर नहला रही थी। उसे नहला दिया। उसका शरीर पोछने के लिए कपड़ा लेने के लिए माँ भीतर गई। पास मे ही तेली रहता था। वह भी तभी किसी काम से भीतर गया। माधु की तीव्र इच्छा ने जोर मारा। बुद्धि ने इच्छा का अनुसरण किया और माधु दौड़कर तिल मे लोट-पोट हो गया। शरीर मे तिल चिपक गये। वह शीघ्र दौड़कर अपने घर में घुस गया। ले माँ! ले माँ! कहता हुआ खुशी से माँ से लिपट गया। माँ सबकुछ समझ गई। वह बच्चे की बुद्धि पर मुग्ध हो गई। उसने बच्चे को कपड़े पर खड़ा करके उसके शरीर पर चिपके हुए तिलो को पोछ लिया और यों माधु की तिलपपड़ी खाने की इच्छा पूर्ण हो गई।

अब हालत यह हो गई, कि—माधु जब भी तिल सूखते हुऐ देखता तो वह माँ से आकर कहता—'माँ! मुझे स्नान करा दे।' माँ भी समझ जाती। वह उसे स्नान कराने बैठ जाती और मौका देखकर माधु भी अपना कार्य कर लेता। माधु बड़ा होता गया। वह बड़ी सफाई से लोगो का माल उड़ाने लगा। उसने यह कार्य करते-करते चौर्य कर्म मे निपुणता प्राप्त कर ली। व्यक्ति जिस ओर बुद्धि लगाता है, उसी ओर बुद्धि दौड़ने लग जाती है। अच्छे कार्यों में भी बुद्धि अपना कौशल दिखाती है तो बुरे कार्यो में भी रम जाती है। माधु चुराई हुई वस्तुएँ ला-लाकर माँ को देता है। माँ बड़ी खुश होती है। वह उससे कहती है—'बच्चा तू ठीक कर रहा है। दुनिया ने हमारी परवाह नही की तो हमे उसे लूट कर आनन्द लूटने का हक है और दुनिया में कहा चोरी नहीं हो रही है। कोई प्रकट चोर हैं तो कोई गुप्त चोर हैं। ये साहुकार कहलाने वाले भी सब कहा दूध के धोये हैं। दुनिया मे जिधर देखो उधर चोर ही चोर नजर आते हैं। व्यापारी चोर हैं। सुनार चोर हैं। राज-कर्मचारी चोर हैं। अरे! साधु भी चोर हैं—भगवान् की आज्ञा के। तो, भाई! तू कोई बुरा कार्य नही कर रहा है।'

मा का प्रकट अनुमोदन पाकर, माधु का साहस बढ़ गया। दिन-प्रतिदिन उसके चौर्य कार्य मे वृद्धि होने लगी। बहुमूल्य वस्तुओ को भी वह चुराने लगा। किन्तु इतनी सफाई से वस्तुएँ वस्तुएँ चुराता था, कि किसी को कुछ शका नही होती थी। उसकी रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने लगा। वह बढ़िया कपड़े पहिनता। बढिया वस्तुएँ खरीदता। मकान भी बढिया बना लिया। लोगो को अब सदेह होने लगा– इसके पास कुछ धधा तो है नही। फिर यह इतना समृद्ध कैसे हो गया? होगा, कुछ तस्कर-व्यापार करता होगा।' लोगो ने खास ध्यान नही दिया। चोरी की वारदातें बढ़ने लगी। चोर पकड मे नही आता है। लोगो का शक माधु पर जाता है। पर प्रमाण के अभाव मे शक, शक ही रह जाता है। लोग उस पर नजर रखने लगे। माधु और ज्यादा सावधान हो गया। व्यक्ति कितना ही सावधान क्यो न हो, किन्तु कभी न कभी तो छिपाते हुए भी उसके दोष का छिद्र खुल ही जाता है। माधु ने राजमहल मे चोरी की और वह चोरी का माल हजम न हो सका। बात फूट गई। वह पकड लिया गया। पुष्ट-प्रमाणो से उसका अपराध साबित हो गया। उसकी कई चोरियाँ प्रकट हो गई। जेल की यातनाओ को न सह सकने के कारण माधु ने भी सब अपराध स्वीकार कर लिये। उसे फासी का हुकम हुआ।

उसे फासी पर लटकाने के लिए ले जाया गया। लोगो की बहुत बडी भीड के बीच मे उसे फासी पर लटकाया जा रहा था। उस भीड मे उसकी मा भी आसू बहाती हुई खडी थी। माधु को फासी पर चढाने से पूर्व उसकी अन्तिम इच्छा पूर्ण करने के लिए पूछा गया। उसने कहा– मुझे अपनी मा से मिलना है।' उसकी मा को उसके पास लाया गया। वह फासी के तख्ते के नीचे झुका। माँ समझी, कि–यह मुझे गुप्त धन के बारे मे कुछ बतलाने जा रहा है।' वह भी कुछ ऊँची उठी और अपना कान माधु के मुख के पास तक ले गई। माधु ने उसका कान अपने मुँह मे दातो के बीच मे

दबा लिया। मा दर्द से चीखने लगी। पर उसने कान नही छोडा। सिपाहियों ने जबर्दस्ती से उसका मुंह हटाया। परन्तु कान माधु के मुख मे ही रह गया। मा लहू-लुहान हो गई। वह बेटे को गालिया देने लगी। लोग भी कहने लगे—'कितना दुष्ट है? फासी पर चढते-चढते भी मा कान चुराने से भी बाज न आया।' उस समय माधु ने अपने मुंह के कान को थूककर, जोर से कहा—'भाइयो!'

लोगो का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। उसने कहा—'मेरे कार्य से आपको आश्चर्य हो रहा होगा? पर आपको इससे ज्यादा आश्चर्य होगा—मेरी जीवन-गाथा सुनकर। मैं आज फाँसी पर चढ रहा हूँ—इसका कारण यह मेरी माँ ही है।' लोग ध्यान से सुनने लगे। माधु ने तिल चुराने से लगाकर बड़ी-बड़ी चोरियाँ करने तक की और माँ के प्रोत्साहन की बात प्रारभ से इति तक सुना दी।

लोग उसकी बात सुनकर आश्चर्य में डूब गये। अब वे उसकी माँ को धिक्कारने लगे।

आराध्य के गुण-दोष आराधक में

इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है, कि—यदि पालक में दूषण होंगे तो उसकी पालन-पद्धति भी दूषित होगी और पोषित में भी दूषण उत्पन्न हो जाएगें। यदि माधु की माँ मे विषयो का स्वार्थ न होता तो वह उसे तिल की पहली चोरी के समय ही डाँट देती। उसके दूषण का अनुमोदन नही करती और न उसको चोरी करने के लिए उकसाती ही। अथवा माँ चोरी के दूरगामी परिणामो को नजर के सामने रखती तो भी अपने बेटे के द्रव्य-भाव प्राणों की हत्यारिन न बनती। इसी प्रकार यदि धर्मोपदेशक अनत्त्वज्ञ, स्वार्थी और काम-क्रोधादि विकारो मे लिप्त हो तो वह अपने उपासकों मे भी वे दूषण उत्पन्न करने मे निमित्त बन जाएगा। इसीलिए

ज्ञानी जन यह कहते हैं—आराध्य आप्त ही होना चाहिए—निर्दोष होना चाहिए। यदि आराध्य में विषयो की रुचि होगी, पुद्गल का राग होगा या अन्य किसी प्रकार का महत्व होगा तो उसका तत्व-दर्शन और तत्वोपदेश भी दूषित होगा—अज्ञान से परिपूर्ण होगा। अत. वस्तुतः आप्त वे ही हैं—जो वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ सर्वज्ञ बने—वीतराग बने। उन्होने सर्वज्ञ बनने से पूर्व उपदेश ही नही दिया। तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के पश्चात् ही उपदेश देने की प्रवृत्ति करते हैं। छद्मस्थ के द्वारा असत्य बात के उच्चारण की सम्भावना रहती है और वीतरागता के अभाव में सर्वज्ञता प्राप्त हो नही सकती है। अतः वीतराग और सर्वज्ञ आराध्य का चरण-सेवक, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके, साधना, उपदेश आदि की प्रवृत्ति करता है, तो उसका स्वय का चारित्र्य भी निर्दोष रहता है और वह अन्यो में भी दूषण प्रेषित नही करता है।

सर्वज्ञत्व के विषय मे विवाद

सर्वज्ञ ही आप्त होते हैं। परन्तु आज सर्वज्ञता के विषय में बडा विवाद छिडा हुआ है। यह विवाद आज का ही नही है। भारतवर्ष में जन्म लेने वाले कई दार्शनिको मे भी भूतकाल में सर्वज्ञता के विषय में कई शका-कुशकाओ के साथ तीव्र विवाद छिड गया था। इस विषय मे पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्ष में कई तर्क-वितर्क हुए है। उन तर्क-वितर्कों में न जाते हुए हम यदि सामान्य बुद्धि से भी विचार करें तो हमे 'सर्वज्ञता' का अस्तित्व सहज ही में समझ में आ सकता है। संसार मे कोई मूढ-अतिमूढ नजर मे आता है तो कोई सामान्य बुद्धिमान नजर मे आता है। कोई एक भाषा या विषय का विशेषज्ञ और कोई अनेक भाषाओ या विषयो का विशेषज्ञ दिखाई देता है। हम देखते हैं, कि—एक अपरिपक्व बुद्धि वाले प्राथमिक कक्षा के छात्र

को जितनी देर एक शब्द पढने में लगती है, उतनी देर मे एक विशेपज्ञ कई वाक्यों को पढ जाता है। इस प्रकार हमें ज्ञान में तारतम्य दिखाई देता है तो कहीं न कही ज्ञान के विकास की चरम सीमा भी होना चाहिए और वह सीमा नि सीमता ही हो सकती है।

आजकल जो जैनो मे सर्वज्ञता के विषय मे सदेह उत्पन्न हुआ है-उसका कारण दूसरा है। उसका कारण दार्शनिक बुद्धि नही, किन्तु भौतिक उपलब्धि है। वैज्ञानिको के चन्द्रावतरण को लेकर, लोगो के हृदय मे शास्त्रों पर सदेह ने सिर उठाया है। विद्वान् या अज्ञ सर्वज्ञता के अस्तित्व से इन्कार करने लगे हैं। लोग कहते है-'अरे! चन्द्रमा पर वैज्ञानिक लोग चले गये हैं! आपके शास्त्र झूठे हो गये है! यदि भगवान् सर्वज्ञ होते और ये शास्त्र उन सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए होते तो ये शास्त्र झूठे कैसे होते!'।

आज के वातावरण मे ऐसा कथन सहज है। ऐसे सन्देह के उत्पन्न होने मे कोई आश्चर्य भी नही है। किन्तु इस सदेह से उत्पन्न जो निर्णय सामने आ रहे है, वे सब अवास्तविक और अप्रामाणिक लगते हैं। वस्तुत. न तो हम चन्द्रावतरण के गर्भगत रहस्य को खोलने मे समर्थ है, न शास्त्रों को अप्रमाणिक ठहराने के हमारे पास पुष्ट प्रमाण हैं और न सर्वज्ञत्व के अभाव को सिद्ध करने की कोई शक्ति ही है। सम्प्रति चन्द्रावतरण के विषय मे इतना ही कह सकते हैं, कि-चन्द्रावतरण के दृश्यो को टेलीवीजन पर देख लेना-प्रत्यक्ष-दर्शन नही है। शास्त्रो मे आये हुए द्वीप-समुद्रादि के-लोक-अलोक के-वर्णनो के कारण शास्त्रो को अप्रामाणिक ठहराना भी अनुचित है और उन वर्णनो को प्रक्षिप्त कह देने मात्र से भी काम नहीं चल सकता है, क्योंकि इस एक विषय को नकारने से कई विषयो को अकारण ही नकारने की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। अतः इस विषय में बहुत ही विचार और अन्वेपण को आवश्यकता है। सर्वज्ञत्व के निषेध के विषय मे अभी जैसे तर्क हो रहे हैं, वैसे पहले भी तर्क हुए हैं, उन तर्कों के प्रति-तर्क पहले दार्शनिको

ने दिये हैं, वैसे ही वर्तमान मे भी प्रत्युत्तर मे प्रवल तर्क दिये जा सकते हैं। किन्तु तर्क से सदा के लिए समाधान हो जाय--ऐसा सम्भव नही है।

दूसरी बात, शास्त्रो का प्रमुख विषय साधना है--लोकादिका का वर्णन नही। अत· शास्त्र कहाँ असत्य हुए हैं? क्या काम, क्रोध, मोहादि विकार सत्य की उपलब्धि मे सम्प्रति वाधक नही वनते है? क्या इनको अविचार से दवाने से वितियाँ उत्पन्न नही होती हैं? अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान में ये विकार वाधक कारण हैं, वैसे ही सर्वज्ञता के भी ये अवरोधक कारण हैं। अत. इन्हे दूर करने के लिए हम साधना के मार्ग पर कैसे चले, विकारो से उत्पन्न विकृतियो से पिण्ड कैसे छुडाएँ, विकारो पर जय प्राप्त करके, उन्हे कैसे नि शेष कर डालें, विकारो के क्षय से कैसी आत्मऋद्धि प्रकट होती है--आदि बातें वतलाना ही शास्त्रो का प्रमुख विषय है--अन्य बातें गौण हैं।

सर्वज्ञ नींद नहीं लेते हैं

हाँ, तो भगवान् पार्श्वनाथ सर्वज्ञ थे। कैसे होते है सर्वज्ञ? उनकी स्थिति अलौकिक होती है। सर्वज्ञ को नींद नहीं आती है। यदि सर्वज्ञ नींद लें तो इतने काल के लिए उनमें सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है। निद्रा कव आती है? जव ज्ञानतंतु थक जाते है। सीमित साधनो और सीमित शक्ति से होने वाले ज्ञान में अति होने पर वे साधन और शक्ति थक जाते है। अत· आराम के लिए निद्रा आवश्यक हो जाती है। भगवान् को नींद नहीं आती हैं तो भगवान् को अनिद्रा का रोग हो गया है गया? अनिद्रा का रोग किसे होता है? अभी कहा है न. जिसके ज्ञानतंतु थक जाते हैं जिसे निद्रा की आवश्यकता है और जिसे निद्रा लेने की लालसा है, उसे निद्रा न आती है--तो वह अनिद्रा का रोग है। किन्तु भगवान् को ज्ञान सीमित साधनों से नहीं होता है और न भगवान की शक्ति ही अल्प होती है, इसलिए भगवान् को

आराम लेने के लिए निद्रा लेने की आवश्यकता भी नही रहती है। निद्रा काहे से आती है ? दर्शनावरणीय कर्म के उदय से। भगवान् दर्शनावरणीय कर्म को क्षय करने के पश्चात् ही सर्वज्ञ बनते है। अतः सर्वज्ञ निद्रा नही लेते हैं।

हमारे कई बन्धु भगवान् को दिन में, रात मे, चार महिने के लिए या कल्प, कोटि तक के लिए सुला देते हैं। पर क्या भगवान् सोते हैं ? निद्रा भगवद्दशा का एक दूषण है। वस्तुत भगवान् मे सर्वज्ञता का एक क्षण के लिए भी अभाव नही होता है, यदि एक क्षण के लिए भी ज्ञान की धारा क्षीण होती है या मन्द होती हैं तो ज्ञान के अवरोधक कारणो का अभाव नही हुआ है और ज्ञान के अवरोधक कारणो के रहते हुए, सर्वज्ञता कभी सम्भव ही नही है। जब, कि साधक भगवत्स्वरूप को समझकर निद्रा प्रमाद पर जय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता हैं तो भगवान् निर्मल आत्म-स्वरूप मे स्थित जीव कैसे निद्राधीन होंगे ?

धर्मतीर्थंकर सर्वज्ञ ही होते हैं। भगवान् सर्वज्ञ होते हैं तो उन्हे लाभ है। हमे उनकी सर्वज्ञता से क्या लाभ है ?—यह आगे श्रवण करने पर विदित होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन की पहली गाथा पर विवेचन चल रहा है। कल सर्वज्ञत्व के विषय मे कुछ विचार किया था। धर्मनेता के गुणो का वर्णन चल रहा है। सफल नेतृत्व कौन कर सकता है ?

विशिष्ट ज्ञान और नेतृत्व

नेता की बुद्धि विशिष्ट और पटु होना चाहिए। उसका ज्ञान विशाल होना चाहिए। जिस नेता का ज्ञान विशाल हो, जिसमे भविष्य के फल को दृष्टि मे रखकर दूरदर्शी निर्णय करने की शक्ति हो और जिसमे प्रसग के अनुसार शीघ्र निर्णय करने वाली पटु और आशु बुद्धि हो, वही नेता सफल नेतृत्व कर सकता है। यदि अन्धो की कतार का नेता अन्धा ही हो तो क्या

हाल होगा ? इसी प्रकार अज्ञ व्यक्ति के हाथ मे अगर नेतृत्व की बागडोर होगी तो वह व्यक्तियों को कहाँ से कहाँ लेजाकर पटक देगा ? जिसमे पूर्वापर भावो पर विचार करके, सही निर्णय करने की शक्ति नही है, ऐसे व्यक्ति का नेतृत्व उन्नति की ओर नही, पतन की ओर ही ले जाता है। जो भविष्य मे आने वाली विघ्न-बाधाओ को प्रज्ञा के नयन से देखकर, उनके विरोध के उपायो को नही सुझा सकता है, वह व्यक्ति क्या नेता होने योग्य है ? सच्चा पथ-प्रदर्शक किसे कहते हैं ?—जो यात्री को निर्विघ्न और सकुशल उसकी मजिल पर पहुचा दे। भगवान् धर्मतीर्थंकर हैं—हमारे धर्मनेता हैं। अत. उनका सर्वज्ञत्व हमारे लिए कितना उपकारी है ?

किसका ज्ञान उपकारी है ?

यहाँ इस गाथा मे सम्बुद्धता और सर्वज्ञता का एक साथ उल्लेख किया है। क्या रहस्य है इसमे ? जो व्यक्ति बहुत बडा विद्वान है, अनेक शास्त्रो का पारगामी है और बहुत बडा वैज्ञानिक है, परन्तु जिसे अपनी आत्मशक्तियो की पहचान नही है—आत्मशक्तियो मे विश्वास नही है, उसका ज्ञान सम्यग् ज्ञान नही है—वह सम्बुद्ध नही है। जो सम्बुद्ध नही है, उसका ज्ञान स्व-पर के लिए हितकर नही है। ऐसा व्यक्ति ज्ञान के नाम पर अज्ञान ही फैलाता है। संसार में जितने भी ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है, यद्यपि वह हित के लिए ही हुआ है—अर्थशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र यहाँ तक, कि—कामशास्त्र का प्रणयन भी लोकहित के दावे के साथ हुआ है, तदपि वह ज्ञान हितकर बना है या नही—यह विचारणीय है। आत्मतत्त्व का ज्ञाता ही इस तमाम ज्ञान-विज्ञान का सही उपयोग कर सकता है। ऐसा व्यक्ति ही ज्ञान-विज्ञान को सही मोड दे सकता है और उसका सबल नेतृत्व ही लोगो का कल्याण कर सकता है। यही रहस्य प्रतीत होता है—धर्मनेता के 'सर्वज्ञ' विशेषण से पहले 'सम्बुद्ध' विशेषण रखने का।

जो एक बार सबुद्ध-आत्मा बन जाता है तो सर्वज्ञ बन जाने के बाद भी सम्बोधि उनके साथ ही रहती है। जैसे प्राथमिक कक्षा में जो वर्णमाला का ज्ञान किया था, वह आगे की कक्षाओ मे—सर्वोच्च कक्षा में भी विद्यमान रहता है; वैसे ही सर्वज्ञ हो जाने क बाद भी सम्बोधि का अस्तित्व रहता है। यदि अक्षर-ज्ञान विस्मृत हो जाय तो उच्च विद्या का भी अभाव हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा मे सम्बुद्धता न रहे—प्राप्त सम्बोधि का अभाव हो जाय, तो सर्वज्ञता भी नही रह सकती है। जैसे अक्षर-ज्ञान के अभाव मे उच्च ज्ञान की पुस्तकें बोझ रूप ही हैं, वैसे ही सम्बुद्धता के अभाव मे अल्प या अधिक ज्ञान भी स्व-पर के लिए दु खकर हैं। अत सूत्रकार महर्षि ने भगवान् के विशेषणो में 'सर्वज्ञ' विशेषण से पहले 'सम्बुद्धात्मा' विशेषण रखा है। आशय यह है, कि—भगवान् सम्बुद्ध आत्मा हैं, अतः उनकी सर्वज्ञता स्व-पर के लिए सुखकर है—हितकर है।

सर्वज्ञता का विरोध और उसका अतर

महात्मा बुद्ध ने सर्वज्ञता का विरोध किया है। वे अपने आपको त्रैविद्य कहते थे। वे सर्वज्ञता को सम्भव नही मानते थे और न उसे जीवो के लिए हितकर ही मानते थे। सर्वज्ञता के विरोधियो ने कहा—पदार्थ अनन्त हैं और बुद्धि सीमित है। सीमित आयु वाला व्यक्ति सीमित बुद्धि के द्वारा अनंत पदार्थो को अनत अवस्थान्तरो से युक्त अनन्त द्रव्यो को कैसे जान सकता है। कदाचित् मान ले सर्वज्ञ हो सकते हैं। किन्तु उस सर्वज्ञता से लाभ ही क्या है? अनन्त-अनन्त कीड़े-मकोड़ो को जान लेने से कौन-सा हित है? क्या सुख है?

वस्तुत. वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहेगा। किसी के मान्य या अमान्य करने के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नही है। किसी के विरोध करने से वस्तु-स्वरूप अन्यथा नही हो जाता। हाँ, तो सर्वज्ञता आत्मा की

निज दशा है—सहज स्वाभाविक अवस्था है। हम देखते हैं, दर्पण का धर्म है—पदार्थों को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर देना। यदि पदार्थ दर्पण मे प्रतिबिम्बित न हो तो वह दर्पण ही कैसा? इसी प्रकार ज्ञान मे यह शक्ति है, कि—वह पदार्थों की त्रैकालिक अवस्थाओ को अपने मे प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित करे। ऐसा ज्ञान आत्मा का निज गुण है। छद्मस्थों का ज्ञान क्रमिक होता है—सर्वज्ञो का नही। छद्मस्थ एक-एक पदार्थ को क्रम से जानता है, किन्तु सर्वज्ञ नही। छद्मस्थ मे भी जानने के क्रम मे—पटु अपटु व्यक्ति की अपेक्षा से तारतम्य होता है, पटु व्यक्ति शीघ्र जान लेता है और अपटु को जानने मे विलम्ब लगता है। इस तारतम्य से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं, कि—जब इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान के क्रम में भी विशिष्ट कारण और साधनादि के निमित्त से काल अल्प, अल्पतम लग सकता है, तब बाह्य साधनो के बिना केवल आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान मे क्रमिकता आदि का अभाव हो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है।

क्या ज्ञान सुखद है ?

कोई पूछ सकता है—'आप ज्ञान की इतनी महिमा गाते हैं, किन्तु ज्ञान सुखद है क्या?' उसका तर्क है, कि—किसी व्यक्ति ने वस्तु खरीदी। वह घर गया। किसी ने पूछा—'कितने मे लाये हो?' वह बोला—'५ रुपये मे!' पूछने वाला बोला—'अरे! पांच रुपये तो बहुत दे दिये। अन्यत्र तो तीन, साढेतीन रुपये मे मिल सकती है।' खरीदने वाले को लगा मैं ठगा गया। उसने खोज की। सचमुच मे वह ठगा गया था। उसे यह जानकर दुःख हुआ। यदि वह यह बात नही जानता तो उसे दुःख नही होता। अत. ज्ञान दुःखद है। ज्ञानी कहते हैं—इस उदाहरण से ज्ञान दुःखद सिद्ध नही होता। इससे विपरीत इसी उदाहरण मे वह सुखद भी सिद्ध हो सकता है। मानलो वह ठगा नहीं गया होता। सात की वस्तु उसे पाँच रुपये मे मिल गई होती, तो उसे इस लाभ के ज्ञान से हर्ष होता या नहीं होता? वास्तव मे

वस्तु की सही कीमत मालूम होने पर वह व्यक्ति ठगा जाता क्या ? तो फिर विचार करिये, कि—ज्ञान दु:खद हुआ या अज्ञान ?

वस्तुतः ज्ञान आनन्द का हेतु है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख साथ-साथ ही रहते हैं। व्यक्ति सिनेमा देखने जाता है। सिनेमा मे सुख और दु ख रूप दोनो प्रकार के दृश्य आते हैं। तो, वह सिनेमा मे सुख पाने के लिए जाता है कि दु'ख पाने के लिए ? उन्हें सुख मिलता है तो दृश्य को जानकर या विना जाने ? बाजार मे व्यक्ति बजते हुए ट्रॉजिस्टर लिये फिरते हैं। वे गानो मे मस्त हो जाते हैं, तो क्या वे लय-ध्वनि और भावो को विना समझे ही मस्त हो जाते हैं ? रेडियो जोर मे वजता है तो जी अकुला जाता है। लाउडस्पीकर से मेरे जैसे जीव का तो मस्तक भन्ना जाता है और कभी-कभी तो बोलने वालो की वात कुछ भी पल्ले नही पडती है। पर होटलो मे जोर-जोर से रेडियो बजते रहते हैं। सभाओ मे लाउडस्पीकर सगीत आदि की ध्वनि को जोर से फेंकते रहते हैं। तो, क्या वे रेडियो-लाउडस्पीकर लोगो को भगाने के लिए लगाते हैं ? हमे तो इससे विपरीत बात ही नजर आती है। लोग इन साधनों के निमित्त से और ज्यादा आकर्षित होते हैं। तो, वताइये—जो इन साधनो के निमित्त से झूम-झूमकर मस्ती मे इठलाते है, वे कुछ समझकर मस्ती मे लीन होते हैं या विना समझे ही ? बच्चा सिनेमा-रेडियो की कहानी-सगीत मे कुछ समझता नही तो उसे उनमे कुछ आनन्द भी नही आता है। जो कहानी या सगीत को कुछ समझता है और जिसकी सवेदना कहानी-सगीत के द्वारा पोषित होती है तो वह उनमे एकात्मता की अनुभूति करता है और उस ऐकाग्र एकात्म-अनुभूति मे ही उसके आनन्द का रहस्य छिपा हुआ है। इस प्रकार देखलीजिए, कि—ज्ञान सुखद है या दुःखद है ?

राग-द्वेषात्मक वृत्तियो वाले जीव को ज्ञान के निमित्त से दु ख और सुख रूप दोनो प्रकार की अनुभूतियाँ हो सकती हैं। किन्तु वीतराग ज्ञान के

निमित्त से होनेवाली राग-द्वेषात्मक वृत्तियो से स्पन्दित नही होते है, अतः उनका अनन्त ज्ञान उनके सुख मे विघातक नही बन सकता है। वे अनन्त सुख मे लीन रहते है।

भगवान् के सर्वज्ञत्व से साधक को लाभ

भगवान् सर्वज्ञ हैं तो भगवान् को लाभ हैं, किन्तु साधक को क्या लाभ है? वकील, वैद्य आदि के ज्ञान का लाभ उनको स्वय को ही मिलता है या अन्य को भी मिलता है? जैसे वकील, वैद्य आदि के ज्ञान का लाभ अन्य को भी मिलता है, वैसे ही भगवान् के सर्वज्ञत्व का लाभ साधक जीवो को भी मिलता है। वैद्य आदि के ज्ञान का लाभ मिलना तो सदिग्ध भी हो सकता है, किन्तु भगवान् के सर्वज्ञत्व से मिलने वाले लाभ मे तो यत्किन्चित् भी सदिग्धता नही है। उनके ज्ञान के बल से ही सन्मार्ग की समझ प्राप्त करता है—साधक। सर्वज्ञो के अतिशय ज्ञान से दृष्ट तत्व-उपदेश, साधको के लिए भवसागर मे प्रकाश-स्तम्भ सा कार्य करता है।

सर्वज्ञ से उपदिष्ट तत्व-ज्ञान के सिवाय सर्वज्ञत्व मे विश्वास भी साधना मे बहुत बडा अवलम्बन बन जाता है। सर्वज्ञत्व मे विश्वासी मानव, लाभ-हानि के प्रसग में—'जो ज्ञानी ने ज्ञान में देखा है, उसमे अन्यथा कुछ भी नही हो सकता है'—यह सोचकर, आर्त-रौद्र ध्यान से बच सकता है। इसके सिवाय अन्य लाभ भी है। 'जैन रामायण' में इस विषय मे एक प्रसंग आया है।

एकान्त मे कुर्कट-वध की आज्ञा

आचार्य क्षीरक दम्बक के छात्रों मे तीन छात्र मेधावी थे—राजपुत्र वसु, स्वयं आचार्य का पुत्र पर्वतक और मित्र का पुत्र नारद। आचार्य का

तीनो पर विशेष अनुग्रह था। वे प्रेमपूर्वक उन्हे अध्ययन कराते थे। एक दिन तीनो छात्र वृक्ष तले विश्रान्ति लेते हुए निद्राधीन हो गये। उस समय उधर से दो चारण श्रमण निकले। उनकी दृष्टि उन छात्रो पर पडी। वे परस्पर बातें करने लगे। एक श्रमण दूसरे श्रमण से बोले—'ये एक ही आचार्य के पास पढने वाले छात्र हैं। इनमे एक स्वर्गगामी है और दो नरक गामी हैं।' यो बात कहते हुए श्रमण आगे निकल गये। उनकी बात क्षीरकदम्बक आचार्य के कान में पड़ी। आचार्य इस विषय मे सोचते ही रह गये और श्रमण दृष्टि से ओझल हो गये। आचार्य सोचने लगे—'तीन मे से दो नरकगामी हैं और एक स्वर्गगामी है। कौन नरकगामी है और कौन स्वर्गगामी है?—श्रमणो ने इस बात को स्पष्ट नही बतलाया। इस बात का स्पष्ट पता कैसे चले?' आचार्य के मन मे यह प्रश्न पुन पुन उठने लगा। आचार्य ने देखा, कि—जब तक इस शका का समाधान नही होगा, तब तक चित्त में शान्ति नही होगी। उन्होने इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए एक उपाय सोचा। आटे के तीन कुर्कट बनाये और तीनो छात्रो को बुलाकर, उन्हे एक-एक कुर्कट दे दिया और कहा—'एकान्त मे जाकर' जहाँ कोई नही देखे वहाँ कुर्कट का सिर काट डालो और फिर मेरे पास आओ।' तीनो छात्र कुर्कट को लेकर रवाना हो गये।

वसु राजकुमार और पर्वतक ने कही एकान्त देखकर, मुर्गे का सिर काट दिया और आचार्य के पास लौट आये। आचार्य ने जान लिया, कि—ये दोनो नरकगामी हैं। किन्तु अभी वरद नही लौटा था। इसलिए बिल्कुल सही निर्णय अभी नही किया जा सकता था।

नारद आचार्य के पास से चलकर नगर के बाहर आया। उसने इधर-उधर देखा। बिल्कुल निर्जन स्थल था। कुर्कट का वध करने के लिए चाकू निकाला। इतने में चिड़ियो के चहकने की आवाज आई। उसने सोचा—'गुरुजी ने तो बिल्कुल एकान्त स्थल में यह कार्य करने का कहा है

ओर यहाँ चिड़ियाँ चहक रही हैं। इसलिए यह एकान्त स्थान नहीं है।' वह आगे बढा। सघन वन मे चला गया। वहाँ उसने सोचा—'यहाँ तो ये वृक्ष हैं। यहाँ भी एकान्त नही है।' आगे चला। खुले मैदान मे गया। जैसे चाकू हाथ मे लिया, उसकी नजर चिलचिलाती धूप पर गई। उसने सोचा—'अरे ! यहाँ तो सूर्य देख रहा है। यह भी एकान्त स्थान नही है।' आगे बढा। एक पर्वत की गुफा मे गया। उसने सोचा—'अब बिल्कुल एकान्त मे आ गया हूं। यहाँ कोई भी नही देख रहा है। अब गुरुजी की आज्ञा का पालन कर लेना चाहिए।' ऐसा सोचकर वह वार करने के लिए तैयार हुआ। एकाएक उसकी स्मृति मे गुरुजी की एक बात बिजली की तरह कौंध गई। उसका हाथ रुक गया। वह सोचने लगा—'गुरुजी ने एक बार कहा था—भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तो, यहाँ एकान्त कहाँ है? यहाँ भी भगवान् देख रहे हैं। गुरुजी ने तो कहा है, कि—जहाँ कोई नहीं देखे वहाँ यह कार्य करना। ऐसा तो कोई भी स्थान नही है, जहाँ कोई भी न देखता हो। तो फिर गुरुजी की आज्ञा का क्या रहस्य है?' नारद दुविधा मे पड गया।

आखिर मे नारद कुर्कट को जैसा के तैसा हाथ मे लिए आ गया। गुरुजी नारद की राह देख रहे थे। नारद को ऐसा ही आया देखकर, पूर्वागत दोनों छात्र करने लगे—'कितनी देर लगाकर आये हो नारद! फिर भी तुमने गुरुजी की आज्ञा का पालन नही किया। बडे आलसी हो तुम।' गुरुजी ने नारद की ओर देखा और बोले—'अरे! तुमने अभी तक मेरी आज्ञा का पालन नही किया?' नारद विनयपूर्वक बोला-'गुरुजी! मैंने अक्षरश. आपकी आज्ञा का पालन किया है।'

दोनों छात्र हँस पड़े। बोले—'वाह रे! आज्ञा-पालन! आज्ञा के अनुसार सही कार्य तो हमने किया है। तूने कुछ कार्य तो किया ही नही, फिर कैसे आज्ञा का पालन किया है?'

आचार्य भी गंभीरता से बोले–'भाई ! तूने मेरी आज्ञा का पालन कैसे किया है ?' नारद बोला–'गुरुजी ! आपकी इस आज्ञा के निमित्त से आज मुझे मनन करने का बहुत अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। आपने इस एक आज्ञा के बहाने मुझे कई शिक्षाएँ प्रदान कर दी हैं। चिन्तन करते हुए मैं इसी निर्णय पर पहुचा हू, कि–आपका आदेश कुर्कट के वध का नहीं था, किन्तु दया पालने का था।'

आचार्य आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगे। नारद ने अथ से इति तक सारी घटना सुना दी। उसकी चिन्तन-पद्धति को देखकर, आचार्य बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मन ही मन निर्णय कर लिया, कि–नारद स्वर्गगामी है और वसु और पर्वतक नरकगामी हैं। अपने पुत्र की यह भवितव्यता जान-कर, उन्हे खेद भी हुआ। पर वे इस विषय मे क्या कर सकते थे ?

एकान्त पाप का उत्तेजक

इस कथा-प्रसंग का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट है। अधिकतर पाप–'मुझे कोई नहीं देख रहा है'–यह सोचकर ही होते हैं। मनुष्यो को प्रायः पाप से इतना भय नहीं होता है, जितना कि–पाप प्रकट हो जाने का भय होता है। वह पाप करने से पहले, करते समय और करने के बाद भी उन्हे गुप्त रखने के उपाय करता है। वह इज्जत से रहना चाहता है और पाप करने से दूसरो की दृष्टि मे गिर जाता है। इसलिए किसी के देखते वह पाप करने से हिचकता है। मानव की पापवृत्ति शिष्ट समुदाय मे दबी रहती है। लेकिन एकान्त पाते ही वह वृत्ति खुलकर खेलना चाहती है। इसलिए एकान्त–अन्यो की दृष्टि से बचने की वृत्ति पाप की उत्तेजक है। अन्यो की दृष्टि से बचने की इच्छा तब होती है, कि–जब यह विश्वास हो, कि–यह सीमित दृष्टि वाला है। किन्तु जब भगवान् की अनन्त दृष्टि में विश्वास हो जाता है तब इस नजर बचाने की वृत्ति को अवकाश ही कहाँ रह जाता है।

मीरां ने कहा—

मीरांबाई प्रसिद्ध भक्त हो गई हैं। उनके पास भक्त, महात्मा आदि की भीड लगी रहती थी। आनेवालो मे सब भक्त ही हो ऐसा तो था नही। कोई ढोगी भी भक्त के रूप मे आ सकता था। एक भक्त आया। मीरांबाई के सौन्दर्य को देखकर उसका चित्त चञ्चल हो गया। उसने मीरांबाई से एकान्त मे मिलने की मांग की। मीरांबाई का माथा ठनका। किन्तु कुछ सोचकर, उसकी बात उन्होने स्वीकार कर ली। उसे समय दे दिया। वह ढोगी व्यक्ति यथासमय वहाँ पहुचा। उस समय मीरांबाई के आसपास बहुत-से व्यक्तियो की मण्डली मजी थी। उस ढोगी भक्त ने कहा—'मैं तो आपसे एकान्त मे मिलना चाहता हू और यहाँ तो बहुत से व्यक्ति बैठे हुए हैं। आपने भी मुझे एकान्त में मिलने का समय दिया है। मीरांबाई ने शान्ति से कहा—'यह एकान्त ही है'

वह बोला—'यह एकान्त है?'

मीरांबाई ने कहा—'हाँ भाई! यह एकान्त ही है। मैं जब अकेली पडती हू तो मेरा गिरधर गोपाल मेरे सामने आ जाता है। वह छोटे से बडा बनता जाता है। वह विराट् हो जाता है। उसका विराट् रूप मेरी दृष्टि मे दूर ही नही होता है। वह कान्हा मेरे साथ ही लगा रहता है। जब मैं भक्त मण्डली मे बैठती हू, तब वह विराट् भक्तो के रूप मे अदृश्य हो जाता है और मुझे यह एकान्त मिल जाता है। बोलो, तुम्हे जो कहना हो सो कहो। मेरा एकान्त यही है।'

वह भक्त लज्जित हो गया। उसकी रूप-लोलुप आँखो पर से वासना का परदा हट गया। उसने मीरांबाई का वह भव्य रूप देखा, कि—जब भगवद् भक्ति अग-अग मे व्याप्त हो जाती है तो व्यक्ति अकेले मे इष्ट-संयुक्त होकर, अनेक बन जाता है और अनेको के बीच इष्ट-वियुक्त होकर है

एकाकी रह जाता है या उन अनेको में अपने इष्ट का दर्शन करता है। उसने मीरांबाई से क्षमा माँगी।

इस कथा-प्रसग मे क्या आशय है ? विचारिये।

सर्वज्ञता के विश्वास से ग्रन्थि-छेदन

भक्त के लिए कोई स्थान एकान्त नही है। इसलिए सच्चे भक्त की सदा भगवद् दृष्टि मे रहने की वृत्ति से कई हीन आत्म-ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं और नई ग्रन्थियो का बन्धन ही नही होता है। यदि व्यक्ति नित्य प्रति भगवान् के सर्वज्ञत्त्व गुण का स्मरण करके, 'मेरे सब कार्य उनकी दृष्टि मे ही हो रहे हैं। मेरा एक भी कार्य उनसे छिपा हुआ नही है–' इस भाव का कुछ काल के लिए अभ्यास करता रहे, तो उसे अपनी आत्मोन्नति मे विशेष प्रगति होती हुई दिखाई देगी। शास्त्रो मे 'नमोत्थुण' के पाठ के पश्चात् इसी अगोपन भाव के अभ्यास के लिए, साधको द्वारा प्रयुक्त एक-दो वाक्य आये हैं। इस प्रकार की वृत्ति को यदि कोई भयवृत्ति माने तो उसके साथ हमारा कोई विवाद नही है। क्योकि हम यह मानते हैं, कि–काँटे से काँटा निकाला जा सकता है, विष की औषधि विष हो सकता है, तो सब भयो को जीतने के लिए यह भय भी रामबाण हो सकता है और जिस प्रकार काँटा निकल जाने के बाद काँटा फेंक दिया जाता है तथा विष के प्रभाव को नष्ट करने के बाद औषधि रूप विष शमित हो जाता है, इसी प्रकार सब भयो के निवृत्त हो जाने के बाद यह भय भी निवृत्त हो जाता है। सर्वज्ञता के विश्वास से साधक इस प्रकार लाभ उठा सकता है।

विकास के विषय में दो दृष्टियाँ

'सर्वज्ञ' विशेषण के बाद आता है–'धम्मतित्थयरे' विशेषण। 'धम्म तित्थयरे' अर्थात् धर्मतीर्थंकर। धर्मतीर्थंकर पद लोक मे सर्वोच्च पद है–

मानव को देव से भी ऊपर प्रतिष्ठित करने वाला पद है। इसलिए इस पदस्थित आत्मा को 'देवाधिदेव' कहते हैं। यह 'देवाधिदेवत्व' कहाँ से आता है ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने से पहले हमे भारतीय दर्शनो मे व्याप्त विचारधारा का विश्लेषण करना होगा। मानव के द्वारा उत्तम शक्तियो की प्राप्ति के विषय मे हमे दो दृष्टियां प्रधान रूप से दिखाई देती है। एक प्रमुख विचारधारा मे ऐसा विश्वास व्याप्त दिखाई देता है, कि—मानव मे जो भी उत्तम शक्तियाँ हैं, वे सब ऊपर से उतरी हुई है। मानव में इतनी शक्ति नही है, कि—वह अपनी शक्ति से इतना विकसित हो सके। जब-जब विशेष उन्नत और विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, तब-तब तद्रूप दिव्य शक्तियाँ ससार मे मानव के रूप मे अवतरित होती हैं। इस विचार के अनुसार उत्तम शक्तियो का एक अलौकिक धाम इस जीव-जगत् से कही अन्यत्र है। अत वहाँ से यदा-कदा जीवो के उद्धार के लिए उन शक्तियो का यहाँ अवतरण होता है।

दूसरी विचारधारा की दृष्टि इससे बिलकुल विपरीत है। उसका विश्वास है, कि—जिस प्रकार जीव की हीनतम अवस्था उसके अपने पुरुषार्थ से प्राप्त उसकी अपनी ही अवस्था है, इसी प्रकार उच्चतम अवस्था उसके अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त उसकी अपनी ही अवस्था है। परमात्मदशा भी आत्मा के पुरुषार्थ का ही फल है। वस्तुत आत्मा में जो परमात्मस्वरूप शक्ति रूप से विद्यमान है, वही सत्पुरुषार्थ से अभिव्यक्त होता है। इसीलिए कहा गया है—'अप्पा सो परमप्पा'—जो आत्मा है, वही परमात्मा है। जीव ही शिव है। उत्तम शक्तियां कही बाहर से नही आती हैं, किन्तु अपनी शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं।

दूसरी विचारधारा ही जैनदर्शन को मान्य है। उसकी दृष्टि के अनुसार, जीव ही अपनी शक्ति से अपने भीतर की योग्यता के अनुसार

देवाधिदेवत्व-धर्म तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। यह उसकी अपनी हीं उच्चता है—भव्यता है।

अवनत से उन्नत

तीर्थंकरत्व मे आत्मा के वाह्य-आभ्यन्तर ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति है। जो आत्मा आज दीन-हीन है, वेवस है, निर्बल है और मोह के निविडि वन्धनो में वन्धा हुआ अज्ञान के घोर अन्धकार मे ठोकरे खा रहा है, वही आत्मा अपनी शक्ति को विकसित करते हुए, क्रमशः उन्नति के शिखर का आरोहण करते हुए परमात्मा वन जाता है। कहा है—

एक टहनी एक दिन पतवार वनती है
एक चिनगारी दहक अगार वनती है।
जो सदा रौंदी गई वेवस समझकर
एक दिन मिट्टी वही मीनार वनती है॥

लौकिक कवि कहता है, कि—जो टहनी हवा के द्वारा झिझोडी जा रही थी, वही टहनी एक दिन मनुष्यो को सागर से पार पहुंचाने के लिए सबल पतवार वन जाती है। जो अपने विशाल स्वरूप से पिछडी हुई, क्षीण-काय और क्षणभर मे नामशेष होने वाली चिनगारी है, वही अनुकूल संयोग पाकर, दहकता हुआ अगारा वन जाती है। जिस मिट्टी की कोई कदर नही है, जो सदा पाँवो तले ही रौंदी जाती रही है और जिसकी ऊँचाई का कोई स्वप्न मे विचार नही कर सकता है, वही मिट्टी एक दिन गगनचुम्बी मीनार मे वदल जाती है। ईसी प्रकार आज जो अवनत जीव है, उसमें उन्नति की कितनी संभावनाएँ दबी पड़ी हैं—इसकी हम कल्पना भी नही कर सकते हैं।

जो भूतकाल मे तीर्थंकर हो गये हैं, वे सव पहले सामान्य जीवो के समान स्थिति वाले ही थे। वे निम्न दशा से ही ऊँचे उठते हुए, परमात्म-

दशा तक पहुँचे हैं। अतीत काल मे उन जीवो ने भी वहुत भव भ्रमण किया है। उनमे भी क्रोधादि कषायो की तीव्र वृत्तिया थी। वे भी कर्मों के गाढे वन्धनो मे जकड़े थे और हीनतम दशा मे वेभाव पड़े रहे थे। किन्तु एक दिन उनकी चेतना ने करवट ली और वे अपनी शक्तियो को, अपने सामर्थ्य को और अपने स्वरूप को पहचानकर आगे बढ गये—रक से राजराजेश्वर हो गये।

तीर्थंकरत्व और परमात्मदशा

तीर्थंकरत्व और परमात्मदशा दोनो भिन्न अवस्थाएँ है। तीर्थंकरत्व पुण्यकर्म का उत्कृष्ट फल है। जीवजगत् मे तीर्थंकर से बढकर तो क्या, किन्तु उनके समान स्तर वाला भी प्रभुता सम्पन्न कोई जीव नही है। फिर भी तीर्थंकरत्व है तो कर्म के उदय से ही प्राप्त होने वाला पद और कर्म के उदय से जो फल प्राप्त होता है, वह भौतिक ही—पौद्गलिक ही—होता है। यद्यपि तीर्थंकरत्व परमात्मदशा के समीप की ही, अरे! परमात्मदशा के साथ ही रहने वाली स्थिति है, तदपि है वह कर्मजनित पौद्गलिक स्थिति ही इसलिए समस्त कर्मों के क्षय के साथ ही तीर्थंकरत्व का क्षय हो जाता है। इससे विपरीत परमात्मदशा कर्मों के क्षय से प्राप्त होनेवाली अवस्था है। परमात्मदशा आत्मा का निज स्वरूप है। अत तद्रूप कर्मों का आवरण हटते ही आत्मा का निज स्वरूप प्रकट हो जाता है और जब निज स्वरूप परमात्म स्वरूप एक वार अनावृत हो जाता है तो पुन कभी उसका विलय नही होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है, कि—तीर्थंकरत्व विशिष्ट औदयिक भाव है और परमात्मदशा क्षायिक भाव का परिणाम है।

तीर्थंकर नामकर्म का बन्धन

तीर्थंकर नामकर्म नामकर्म की एक प्रकृति है। तीर्थंकर नामकर्म का वन्धन तीर्थंकर के भव से पूर्व तीसरे भव मे होता है। अरिहन्त, सिद्ध,

स्थविर, वहुश्रुत, तपस्वी आदि की सेवा करते हुए, गुणकीर्तन करते हुए, उत्कृष्ट भाव रसायन की प्राप्ति होने पर तीर्थंकर नाम कर्म का वन्धन होता है। वीस वोल मे से किसी एक या एकाधिक या बीसो बोल की आराधना करते हुए, समस्त जीवो के प्रति परम करुणा का भाव उल्लसित होता है, तव उस मन्दकपायत्व मे तीर्थंकर नामकर्म बाँधने की योग्यता उत्पन्न होती है। जव वह परम भाव परम उत्कर्ष को प्राप्त होता है, तव लोक के परम-ऐश्वर्य के आकर्षण के केन्द्र रूप तीर्थंकर नामकर्म का बन्धन होता है।

तीर्थंकर नामकर्म के वन्धन के वाद एक भव नरक या देव का करके, वह जीव तीसरे भव मे तीर्थंकर रूप मे मनुष्य-गति मे जन्म लेता है। सम्यक्त्व रहते हुए तो नरकगति के आयुष्य का बंध नही होता है, किन्तु पहले नरक का आयुष्य वध गया हो तो उसका फल भोगना पडता है। तीर्थंकर बनने वाला जीव भी इसका अपवाद नहीं है। तीसरे नरक तक के आयुष्य के वध हो जाने पर भी तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन हो सकता है—तीसरे से आगे के नरक-आयु का वन्ध हो जाने के वाद नही। इसीलिए तीर्थकर नामकर्म के वन्ध वाले भव और तीर्थंकर भव के वीच मे, नरक या वैमानिक देव का एक भव करना पड़ता है।

तीर्थंकर की आश्चर्यजनक ऋद्धि

तीर्थंकर नामकर्म का कितना माहत्म्य है। जो जीव थोड़ी देर पहले नरक मे पीडा भोग रहा था, वही जीव कुछ देर बाद माता के गर्भ मे तीर्थंकर के रूप मे आते ही देवेन्द्रो के द्वारा अभिवदनीय हो जाता है। कुछ मास पहले जो नरक मे पीडा का अनुभव कर रहा था, कुछ मास बाद उसके मनुष्य लोक मे जन्म लेते ही नरक मे भी सुख की लहर व्याप्त हो जाती है। तीर्थंकरो को गर्भ मे ही—पूर्व भव से साथ मे आया हुआ अवधिज्ञान

रहता है। जब कि अवधिज्ञान पूर्व भव का साथ मे आ सकता है तो विशिष्ट मति-श्रुतिज्ञान साथ मे रहे इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। उन्हे जन्म से ही कुछ अतिशय प्राप्त होते है। उनके गर्भ मे आते ही वैभव की वृद्धि होने लगती है। जन्मोत्सव के लिए देवागमन होता है। इस शुभ कर्म के उदय से कैसे-कैसे आश्चर्य-जणक कार्य होते है, वे हमारी वुद्धि के लिए कल्पना की ही वस्तु तो क्या, किन्तु ऐसे अतिशयो की हम कल्पना भी नही कर सकते हैं। आज का मस्तिष्क इन वातो को कल्पना की उपज ही मानता है और वह कह उठता है, कि—'अपने धर्माचार्य का महत्व बढाने के लिए ये कल्पना के जाल बुन डाले गये हैं।' किन्तु जरा गहराई से बिचार करेंगे तो हमे विदित होगा, कि—ससार मे जो हमारी वुद्धि के गम्य होता है, वही और इतना ही मात्र सत्य नही है। सत्य बौद्धिक कल्पना और तर्क से भी विलक्षण होता है। जो वस्तु किन्चित एव क्वचित् मिलती है वह कल्पित और आश्चर्यजनक लगती है। किन्तु विचार करिये, कि—सर्वोत्तम पदार्थ सर्वत्र और सदैव क्या मिल सकते है? और जो सदा और सब ज ह नही मिल सकता है, वह कल्पित है—यह कहा जा सकता है क्या? बीज वीमार होता है तो फल भी प्राय वीमार होता है और बीज सुष्ठु, स्वस्थ और सुन्दर होता है तो फल भी ऐसा ही उत्तम होता है। तीर्थंकरत्व भी उत्कृष्ट भाव बीज का फल है।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ की तीर्थंकर नामकर्म के वन्ध के पश्चात् एक भव देव का करके, काशी मे तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुए। बाद मे उन्हे तीर्थंकर के अतिशय प्राप्त हुए।

उत्तराध्ययन सूत्र का २३ वाँ अध्ययन चल रहा है। सूत्रकार—महर्षि केशि-गौतम के सवाद के वर्णन करने के पहले उन—महापुरुषो का परिचय दे रहे हैं। परिचय मे उनके माता-पिता, कुल, वैभव आदि का उल्लेख नही किया है। किन्तु उनके—आराध्यो का परिचय देकर, वे किस

परम्परा के अनुयायी थे और उनकी ज्ञान और चारित्र्य मे कितनी सम्पन्नता थी–इसका वर्णन किया है।

अब तक पहली गाथा मे आये हुए भगवान् पार्श्वनाथ के 'सव्वन्नू' तक के विशेपणो पर विवेचन हो चुका है। अब दो–विशेपण और रहे हैं–'धम्मतित्थयरे' और 'जिणे'। इन पर क्रमश विचार करना योग्य है।

धर्म-तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द से आप परिचित है। जिसने जैन कुल मे जन्म लिया है, उसे बचपन से ही यह शब्द सुनने को मिल जाता है। कान मे कई बार शब्द के पढ़ने पर पर भी उसका अर्थ बोध सहज नही है। यदि इस शब्द का अर्थ पूछा जाय तो कई बन्धु विचार मे पड़ जाएगे। कभी इस शब्द के अर्थ की जिज्ञासा भी हुई होगी या नही। खैर !

तीर्थंकर शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है। तीर्थ और कर। तीर्थकर अर्थात् तीर्थ के करने वाले–तीर्थ के निर्माता।

तीर्थ शब्द का अर्थ

तीर्थंकर शब्द के इस अर्थ से एक नया प्रश्न खड़ा हो जाता है, कि–'तीर्थ किसे कहते हैं ?' आप इसका अर्थ बता सकेंगे क्या ? 'तीर्थ' शब्द के साथ अनेक कल्पनाएँ जुड गई हैं। व्यक्ति तीर्थ किसे समझता है ? नदी, पहाड़, मन्दिर आदि को और 'तीर्थ' शब्द के साथ यात्रा शब्द का सम्बन्ध भी जुडा हुआ है। यात्रा अर्थात् अमुक स्थानो मे जाना, सेवा-पूजा, दर्शन आदि करना, यह प्राय. सामान्य जन की समझ है।

'तीर्थ' शब्द का वास्तविक अर्थ है–'जहाँ से तिरकर सागर से पार पहुच सकते हैं, वह स्थान।' दूसरे शब्द मे उसे 'बन्दरगाह' कह सकते हैं या जहाँ तैरना सिखाया जाता हो या तैरा जाता हो, उसे तीर्थ कहें तो उसे–'स्वीमिंग पुल' कहा जा सकता है। पर ये द्रव्य तीर्थ हैं। इन स्थानो को

'तीर्थ' कहने पर कई व्यक्ति चौक सकते हैं। शब्दार्थ ऐसा होते हुए भी 'तीर्थ' शब्द के साथ अन्य भावना जुडी हुई है। अत: लोगो की भावना को ध्यान मे रखकर अर्थ करे तो यह अर्थ होगा, कि–'ऐसा स्थान, जहाँ लोग आध्यात्मिक या पार लौकिक भावना लेकर जाते हैं और उन स्थान का पूर्व के विशिष्ट व्यक्तियो या देवो का सम्बन्ध जोड दिया गया हो।' वे स्थावर तीर्थ कहलाते है। ऐसे तीर्थ का निर्माण जरा विशेष चतुर और चालाक व्यक्ति के बायें हाथ का खेल है। यहाँ इस अर्थ मे तीर्थ शब्द का प्रयोग नही हुआ है। तो फिर तीर्थ किसे कहते हैं?—

तरावे भव से ओ तीरथ हे
तप-सजम साचो तीरथ हे
धर्मीजन मोटो तीरथ हे
सेवा जात्रा–थान बतायो रे–यू केवाया०

'जिन भावो के द्वारा जीव भवसागर से तैर कर पार हो जाता है, उसे तीर्थ कहते हैं या तप-सयम रूप धर्म ही सच्चा तीर्थ–भाव तीर्थ है और जिसने तप-सयम रूप धर्म को अपने घट मे बसाया है–वह धर्मीजन ही सबसे बड़ा तीर्थ है। धर्म का सेवन और धर्मी की सेवा ही यात्रा का स्थान है। (ऐसे तीर्थ-स्थान और यात्रा-स्थान के आग्रही स्थानकवासी कहलाते हैं।)'

साधु धर्म और श्रावक धर्म के आराधक साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका–ये चारो ही भाव तीर्थ हैं–धर्मतीर्थ हैं। इनकी स्थापना करने के कारण भगवान् धर्मतीर्थकर कहलाते हैं।

तीर्थकर नामकर्म का उदय

भगवान् तीर्थंकर–नामधर्म के उदय से–तीर्थकर बनते हैं। जब कर्म का फल दिखलाई देता है–तभी उसका विपाकोदय या उदय माना जाता है। अत. जिस समय तीर्थ-स्थापना रूप फल प्राप्त होता है, उस समय

ही वे वास्तविक तीर्थंकर होगे। जन्म लेते ही वे तीर्थंकर नही हो जाते हैं। यद्यपि वे आगे–तीर्थंकर बनेंगे–ऐसा समझकर–द्रव्य तीर्थंकर मानकर, उनके पन्च-कल्याणक माने जाते हैं–देव मनाते हैं। परन्तु तीर्थंकर वे तभी कहलायेंगे, जब गृह-त्याग कर के, मुनि बनकर साधना करेंगे और साधना के फल रूप सर्वज्ञत्व को प्राप्त कर के तीर्थ की स्थापना करेंगे। सर्वज्ञत्व की प्राप्ति के बाद ही तीर्थकर-नाम कर्मफल देने के लिए प्रवृत्त होता है। तभी समवसरणादि की रचना होती है और प्रथम या द्वितीय धर्मदेशना के द्वारा चारों तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार उनके शुभ कर्म का उदय भव्य जीवो के उद्धार में निमित्त बन जाता है।

जिन शब्द की पुनरावृत्ति

अब अन्तिम विशेषण है 'जिन'। इस गाथा मे 'जिणे' शब्द दो बार आया है। पहली बार गाथा को आदि मे–'जिणेणासित्ति' रूप मे आया है और दूसरी बार गाथा के अन्त मे 'धम्मतित्थयरे जिणे'–में रूप में आया है। पहले 'जिन' शब्द का अर्थ टीकाकार ने किया है–'परिषह, उपसर्ग को जीतने वाले' और दूसरे 'जिन' शब्द का अर्थ किया है–'कर्म को क्षय–करने वाले'। इस प्रकार टीकाकार ने भिन्न अर्थ करके, शब्द के दो बार आने की सगति बिठाई है। किन्तु–विचार करने पर दो बार 'जिन' शब्द को आने का कुछ और ही रहस्य विदित होता है। पहली बार 'जिन' शब्द पासि-त्ति शब्द से जुडा हुआ ऐसा–लगता है, कि–वह उनके नाम के साथ जुडा हुआ, पद का सूचक नामाश है और दूसरी बार आया हुआ 'जिन' शब्द उनकी विशेषता का, उनके निर्माणशील व्यक्तित्व-के खास गुण का निर्देश कर रहा है।

जिन शब्द का अर्थ

'जिन' शब्द किसी व्यक्ति का नाम नही है। यह शब्द वस्तुतः मानव के व्यक्तित्व के उच्चतम स्तर का सूचक है। 'जिनत्व' पर किसी एक

ही व्यक्ति का अधिकार है–ऐसा भी जैन दर्शन नही मानता है। जो भी योग्यता का सम्पादन करते हुए अपने व्यक्तित्व के स्तर को ऊँचा उठाता है–आवेशात्मक सवेदनाओं पर जय पा लेता है और निर्विकारी अवस्था मे स्थित हो जाता है, वह जिनत्व को प्राप्त कर लेता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, 'जिन' शब्द का यह अर्थ किया गया, कि–'जिन' अर्थात् जीतने वाले, आशय यह है, कि–जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियो पर, अपने राग-द्वेष रूप द्वन्द्वात्मक भावो पर–समस्त आवेशो पर जय पा ली हो, उसे जिन कहते हैं।

सर्वज्ञत्व, तीर्थंकरत्व और जिनत्व

जैन दर्शन का यह उद्घोष है, कि–बिना राग-द्वेष पर जय पाये-बिना जिन बने या वीतरागता पाये बिना कोई भी सर्वज्ञ नही बन सकता है और सर्वज्ञता के अभाव मे तीर्थंकरत्व को निष्पत्ति नही हो सकती। इस सिद्धान्त को छाया में देखें तो इन इन तीनो स्थितियो का क्रम इस प्रकार बनेगा–पहले जिनत्व,-फिर सर्वज्ञत्व और उसके पश्चात् तीर्थंकरत्व। जब–इन स्थितियो मे परस्पर यह तथ्यात्मक क्रम है, तो फिर सूत्रकार महर्षि ने इस क्रम को भग करके, 'जिन' विशेषण को सब विशेषणो के अन्त मे क्यो रखा? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

व्युत्क्रम का महत्व

इस प्रश्न का समाधान पाने से पहले हमे ममकार का स्वरूप समझ लेना चाहिए। जीव जिन्हें अपना मानने लगता है, उनमे उसे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है या वह जिनके सम्पर्क मे आता है, उनमे अपनापन आरोपण करने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिसे वह अपना मान लेता है, उसे अपना ही अपना बनाये रखना चाहता है। वह उसमे अत्यधिक

राग-ग्रस्त हो जाता है। पर उससे भी अधिक ममत्व, अपने द्वारा निर्मित वस्तु मे जागता है। वह अपने निर्माण को श्रेष्ठ समझकर मोहाभिभूत होता रहता है। इतने विचार के पश्चात् विशेषणों के क्रम-भग का रहस्य सहज मे ही खुल जाऐगा। यद्यपि जिनत्व के विना धर्म तीर्थंकरत्व प्राप्त नही होता है, तदपि कई लौकिक धर्मों मे, लोकोद्धार या धर्मोद्धार के लिए प्रभु के पुनः पुन जन्म लेने की धारणा प्रचलित है अर्थात् अपने द्वारा निर्मित लोक या धर्म मे उन प्रभुओ या वुद्धो का ममत्व भाव है। ऐसे ममत्व का तीर्थंकरो में अभाव है—यह वतलाने के लिए 'जिन' विशेषण बाद मे आया हो, ऐसा सम्भव है।

ममकार से प्रीतिपात्र की हानि

जव अपने द्वारा निर्मित वस्तुओ मे या अपनी वस्तुओ मे ममत्व गाढा होता है, तब वह उन-उन वस्तुओ का, नही चाहते हुए भी विनाश कर वैठता है। यदि प्रतिपात्र जीव हो, तो महत्व के वशीभूत होकर, प्राणी उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और उसका अनिष्ट कर डालता है।

एक वहिन के कई पुत्र थे। पुत्र पढ़े-लिखे। वड़े हुए। शादियाँ हुई और वे घोसला छोडकर उड गये। वहिन को वडा दुःख हुआ। जिन्हें अपना माना था—अरे! जो अपने ही अग से निर्मित थे-वे सब पराये हो गये। पर, उसके एक छोटा पुत्र और था। वह अभी शिशु ही था। सारा ममत्व उसने उसी पर उँडेल दिया। वह अव चाहने लगी, कि—यह वड़ा ही न हो। यह मेरी गोद छोड़कर न जाए। वह जरा भी वाहर जाता तो उसे लगता कि—यह चिड़िया भी उड़ी! वह उसे पुन पकड़कर लाती। उसकी जेव मे, हाथ मे मुँह मे खाने की चीजें ठूँस देती। अति लाड-प्यार करने लगती। भोजन के वाद दूध, फिर विस्कुट और फिर और कुछ खाने का।

कितना पचा सकता—बेचारा वह छोटा-सा शिशु। जठराग्नि खराब हो गई। बच्चा कमजोर हो गया। बच्चे का इधर-उधर फिरना बन्द हो गया। कोई माता अपने बच्चे को बीमार देखकर खुश होती है क्या? पर, देखिये—ममत्व का उग्र रूप। वह माँ बच्चे की ऐसी हालत देखकर खुश हो गई। वह सोचती है—अब यह मेरे पास ही रहेगा—मेरी गोद मे ही रहेगा। कैसी है उसकी यह मनो दशा? आप कहेगे, कि—क्या ऐसी भी माँ कोई हो सकती है? पर, क्या असम्भव है—इस मोहराजा के प्रभाव से?

वह बच्चे को रूग्ण देखकर, डाक्टर के पास ले गई। डाक्टर ने दवाइयाँ दी। पर दवाइयाँ दे कौन? माँ के मन में तो यह भय समाया हुआ था कि—यह अच्छा हो जाएगा तो मेरी गोद से दूर हो जाएगा! कभी एकाध बार दवा दे भी देती। किन्तु अधिकतर दवाइयाँ शीशी मे ही रह जाती, या फिर फेंक दी जाती।

रोग बहुत बढ गया। अब उस बहिन की निद्रा खुली। औषधोपचार होने लगा। पर, पथ्य-पालन मे शिथिलता रहने लगी। डाक्टर कहता—'अन्न इसके लिए जहर है।' तो बहिन अपने पुत्र से कहती—'बेटा! डाक्टर तो यो ही कहते रहते हैं। डाक्टरो की बात मानें तो जिन्दा रहना ही मुश्किल है। ले, थोड़ा-सा दूध-दलिया ले ले। क्या अन्न के बिना शरीर टिक सकता है?' औषधियो में हजारो रुपये खर्च हो गये। पर, पथ्य-पालन के अभाव में औषधियाँ क्या कार्य कर सकती हैं? भले, ही औषिधियो का सेवन न हो, किन्तु पथ्य-पालन और आहार-सयम कई रोगो को नष्ट कर सकता है। आखिर माँ के ममत्व का भयकर दृश्य भी उपस्थित हो गया। बच्चा सदा के लिए विदा हो गया और शोक से सतप्त माँ अपना शरीर नोचती रह गई।

यह है ममकार का भयकर रूप! माँ जिसे सदा अपनी गोदमें रखना चाहती थी, उसे ही ममता के कारण अग्नि को समर्पित करना पड़ा।

मेरे मेरे ही रहें, पराये न हो

जो अपने अधिकार में हैं, उनकी सम्हाल करना आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति किसी पर उपकार करता है तो वह चाहने लग जाता है, वह उसका ही बना रहे, दूसरे के पास न जाय, दूसरे का न हो जाय, इसके लिए वह प्रतिबन्ध लगाता है अर्थात् उसने जिस पर उपकार किया है, उसे उसके सकेतो पर ही नाचना चाहिए, उसका असुहाता कुछ भी नही करना चाहिए, उसका गुलाम बन जाना चाहिए। जो उपकारी का उपकार न माने तो वह कृतघ्न है। किन्तु उपकार करने वाला यदि यही प्रयत्न करता रहे, कि—उसके अनुशासित शिक्षित और उपकृत व्यक्ति उसका उपकार मानकर, उसके ही बने रहें, तो यह उसके ममत्व का ही रूप है।

भगवान् में ममभाव नहीं है

भगवान् कइयो के तारक हैं—परन्तु भगवान् में यह ममत्व भाव नही हैं। सूत्रकार महर्षि यह सूचित कर रहे हैं। उन्होने चतुर्विध सघ का निर्माण किया। उस संघ के प्रति भी प्रभु में ममत्व नही था। वस्तुतः तीर्थंकरत्व की स्थिति उस व्यक्ति मे ही रह सकती है, कि—जो साधको के लिए अवलम्बन तो बनता है, किन्तु उनके जीवन पर छा नही जाता है। कोई उनके सघ मे सम्मिलित होता तो उन्हे हर्ष नही होता और कोई संघ छोडकर जाता तो शोक नही होता। भगवान् महावीर देव ने जमाली को दीक्षा दी। जमाली उनके निकट के सम्बन्धी थे। परन्तु वे भी जब भगवान् मे विमुख हो गये तो भगवान् ने कुछ परवाह नही की। वे जब जाने लगे तो भगवान् मे अनुज्ञा मागी। भगवान् ने अवसर नही देखा तो उन्हे नही रोका और न उनके पतन में सहयोग देने के लिए, स्वीकृति के लिए वचन-प्रयोग ही किया। वे जिन थे, वीतराग थे, कोई पूजे, स्तुति करे तो उन्हें हर्ष नही और कोई अपमान करे, और निन्दा करे तो शोक नही। ऐसा निर्लिप्त

व्यक्तित्व ही स्थायी निर्दोष और सर्वजन-हितकारी कार्य कर जाता है। भले ही कोई उनके उपकार को माने या न माने—इससे उन्हे कुछ भी प्रयोजन नही होता है।

उपसंहार

इस गाथा पर कई दिनो से विवेचन चल रहा है। शायद आपको लगता होगा, शास्त्र-वाचन कौड़ी की चाल से चल रहा है। पर यह विवेचन क्यों किया जा रहा है?—इसलिए कि—व्यक्ति आराध्यपद की निर्दोषता को ठीक तरह से हृदयगम कर ले और आराध्यपद की तो जितनी महिमा की जाय- उतना ही अच्छा है। आराध्यपद की विवेचना करने और मनोयोग से सुनने से प्रमोद भाव की अभिव्यक्ति होती है। आराध्य का मानसिक सामीप्य अनुभव में आता है और उसकी सुस्पष्टता के साथ ही साथ जीवन से ध्येय की अवतारणा की शक्ति का उत्पादन और सञ्चय होता है।

इस गाथा मे वर्णन तो भगवान् के गुणो का ही है। किन्तु भगवान् महान् धर्मनायक-सर्वोत्तम नेता थे। अत. गौण रूप से, नेतृत्व के योग्य कौन व्यक्ति हो सकता है—इसका वर्णन भी आ गया है। आज नेतृत्व की भूख बढ़ रही है। पर अपने मे नेतृत्व योग्य गुण है या नही—इसका विचार कौन करे! सही नेतृत्व वही व्यक्ति कर सकता है—जो द्वन्द्वात्मक भावो और परिस्थितियो मे निर्लिप्त रह सकता है। अपना स्वार्थ साधने वालो का नेतृत्व तो जीवो को पतन के गड्डे मे ही ढकेलता है।

    

आगे की गाथा मे आर्य केशिकुमार श्रमण का वर्णन है। वह गाथा इस प्रकार है—

तस्स लोग-पईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसिकुमार, समणे, विज्जा-चरण-पारए ॥२॥

उन लोक प्रदीप (भगवान् पार्श्वनाथ) के एक महा यशस्वी शिष्य थे। उनका नाम 'केशि' था। वे कुमार श्रमण और सिद्या तथा चारित्र में पारगामी थे।

लोक-प्रदीप

'लोक-प्रदीप' भगवान् पार्श्वनाथ का विशेषण है। 'लोक के दीपक' हैं—भगवान्। उन्हें अर्थात् तीर्थंकर को 'लोक-दीपक' मानकर, आचार्य श्रीमान तुंगजी ने स्तुति करते हुए गाया है—

निर्द्धूम वर्त्तिर पवर्जित तैलपूरः।
कृत्स्न. जगत्त्रयमिद प्रकटी करोषि॥
गम्यो न जातु मरुता चलिता चलाना।
पीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः॥

—हे नाथ ! आप इस सम्पूर्ण जगत्त्रय के रहस्य को प्रकट करते हो। आप धुएँ, बत्ती और तेल से रहित, स्थिर पर्वतो को भी हिलादेने वाली हवा से अगम्य और जगत् को आलोकित करने वाले अद्वितीय दीपक हैं।

'लोक-प्रदीप' विशेषण की प्रासंगिकता

भगवान् पार्श्वनाथ का वर्णन पूर्व की गाथा मे कर आये हैं। यहाँ श्री केशिकुमार श्रमण का परिचय दिया जा रहा है। उनके परिचय में भगवान् श्री पार्श्वनाथ के लिए 'तस्स' शब्द ही पर्याप्त था। 'लोक-प्रदीप' विशेषण की यहाँ क्या आवश्यकता थी? इस विशेषण से सूत्रकार महर्षि को क्या अभिप्रेत है?

यहाँ भगवान् को प्रदीप की उपमा देने मे एक रहस्य है। जिस बात को सूत्रकार महर्षि यहाँ ध्वनित करना चाहते हैं, वह बात 'सूर्य' या 'चन्द्र' की उपमा देने से भी ध्वनित नही हो सकती है। 'सूर्य' और 'चन्द्र'

दीपक से बहुत अधिक प्रकाश और उद्योत प्रदान करते हैं। किन्तु उनमे यह शक्ति नही है, कि वे किसी को 'सूर्य' या चन्द्र बना सकें। इस विषय मे आपके विद्युत दीप भी दीन हैं। ऐसी शक्ति तो एक तैल-प्रदीप मे ही है, कि–एक दीपक से हजारो हजार दीपक प्रज्जवलित हो सकते हैं। तथा दीपको से लम्बी परम्परा भी चल सकती है। एक दीये से दूसरा दीया जला। दूसरे से तीसरा। यो चिरकाल पर्यन्त दीयो की परम्परा चल सकती है। जो भी अपनी योग्यता सहित दीपक के पास आता है, उसे वह ज्योति प्रदान कर देता है। इस ज्योति-प्रदान के गुण और ज्योति परम्परा के भाव को झलकाने के लिए भगवान् को लोक-प्रदीप की उपमा दी है। कहा भी है—

लौ से लौ जो पूर्ण लगाये
अगणित वन्दन यो हो जायें।
चेतन-ज्योति उन्ही सम होलो
महावीर प्रभु की जय बोलो।

वन्दन का अर्थ है–झुकना। काया से झुकना अनन्तवार हो नही सकता है और अनन्त साधन के अभाव मे अनन्त रूप फल प्राप्त हो नही सकता है। वस्तुतः अनन्त के प्रति आत्मिक झुकाव अनन्त मे परिणत हो जाता है। जैसे दीपक का झुकाव लौ से मिलने मे सहायक है। उसका झुकाव भी लौ है। यो लौ से लौ लगने पर दीपक मे लौ प्रकट होती ही जाती है। वैसे ही श्री भगवान् के प्रति आत्मिक झुकाव-विनय परिणति-तद्रूपता से जुडकर प्रकट होती है तो कवि के शब्दो मे 'चेतन-ज्योति उन्हीं सम हो लो।'

भगवान् 'केशि' भगवान् पार्श्वनाथ रूप लोक प्रदीप के शिष्य थे। उन्होंने भगवान् पार्श्व से लौ लगाई थी। जिस प्रकार दीपक के समीप जाने वाले दीपक मे योग्यता हो तो उसमे लौ प्रकट हुए बिना नही रहती है और

अपने साधनो के अनुसार 'तीव्र-या मन्द प्रकाश का वितरण करता है। उसी प्रकार उन्होने भी अपनी योग्यतानुसार आत्म-ज्योति को प्रकट किया था।

महा यशस्वी

श्री केशि महाराज उन लोक-प्रदीप के—'आसीसी से महाय से'—महा यशस्वी शिष्य थे। यश पाने की इच्छा प्राय: मानव मे होती है। दुनिया मे यश के लिए—मान-सत्कार पाने के लिए क्या-क्या कार्य नही होते हैं? मनुष्य मे कितनी ललक होती है अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की? पर कह यश पाने की इच्छा क्यो रहती है? क्या मनुष्य यह नही जानते हैं, कि—किसी के द्वारा मेरी बढाई करने से मुझमे क्या विशेषता आ जाएगी और किसी के द्वारा अपने बढाई न होने पर या निन्दा होने पर अपनी कौन-सी विशेषताएँ घट जाएँगी? केशि महाराज को अपनी प्रशसा से कोई लगाव नही था। वे यश के लिए साधना नही कर रहे थे। उन्हे सहज मे ही महान् यश प्राप्त हुआ था। वे यश के पीछे नही दौड रहे थे, किन्तु यश उनके पीछे दौड रहा था। वस्तुत: वे जानते थे, कि—जगत से यश मिलने पर मेरे आत्मा मे कोई गुण-वृद्धि नही होती है और लोगो से निन्दा होने पर मेरी कोई गुण-हानि नही होती है।

यश की चाह और निन्दा

यश की चाह के कारण मानव निन्दा सहन नही कर सकता है। समक्ष मे कोई निन्दा करता है तो आवेश आ जाता है और उससे झगड़ा होता है। पर परोक्ष की निन्दा भी सहन नही होती है। किसे के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से पीठ पीछे की हुई निन्दा का पता चल जाता है तो निन्दा करनेवाले के प्रति मन मे द्वेष भर जाता है और वैर की गाँठ बध जाती है। भले ही

वह यह जानता हो, कि–उसकी निन्दा से मेरा कुछ भी अहित होने वाला नही है ।

यूनानी दार्शनिक सुकरात की ऐसी शिक्षा-पद्धति थी, कि–वह शिक्षार्थियों से वहाँ तक प्रश्न करता जाता था, जहाँ तक अपने द्वारा दातव्य ज्ञान को उनके उत्तरो द्वारा प्रकट न करवा लेता । ऐसी शिक्षा-पद्धति से किसी को बुरा भी लग सकता है । एक समय वह बैठा हुआ था और उसके पास-पास विद्यार्थी भी बैठे हुए थे । एक विद्यार्थी ने कहा, कि–'अमुक व्यक्ति आपकी अनुपस्थिति मे आपकी निन्दा कर रहा है ।' तब सुकरात बोले–'भई' उसका क्या कहना ? मेरी अनुपस्थिति मे वह मुझे पीट भी सकता है । और उस बात से प्रभावित न होकर, अपने कार्य मे लगे रहे ।

सुकरात के कहने का आशय यह था, कि–जो मेरी अनुपस्थिति मे मुझे पीटता है तो वह उसका पागलपन है और उसकी पिटाई का मुझपर कुछ भी बुरा असर नही हो सकता है । इसी प्रकार पीठ पीछे मेरी निन्दा करने से मेरा कुछ भी बनता-बिगडता नही है ।

मुख पर प्रशसा और पीछे निन्दा : पोली प्रशसा

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं–जो सामने तो प्रशसा करते हैं, किन्तु उसके पीठ फेरते ही निन्दा प्रारम्भ कर देते हैं । आजकल ऐसी प्रवृत्ति विशेष देखी जाती है । जिसकी प्रशसा की जा रही है, वह इस बात को जान भी जाता है, किन्तु उससे प्रशसा पाने का मोह नही छूटता । वह ऐसी प्रशसा पाकर भी अपने आपको बहुत बड़ा मानने लग जाता है । यदि हम भलि भाँति विचार कर के देखें तो हमे विदित होगा, कि–लोगो मे गुण-अवगुण परखने की खास शक्ति भी नही है । वे बाहरी आडम्बर देखकर ही रीझ जाते हैं, तो उस प्रशसा का क्या महत्व ?

एक बार एक गाँव मे व्यक्ति बात कर रहा था, कह रहा था—'बहुत बड़े सन्त आये थे।' मैं विचार कर रहा था—'कितने बड़े सन्त आये होगे ? ५-६ हाथ के या ताड़ जितने होगे ? वह बोल रहा था—'नही जी, बड़े माने हुए सन्त थे। उनके साथ लोगो के झुण्ड के-झुण्ड थे। कई मोटरे-कारें दौड रही थी।' यह थी उसकी पहचान। गये वर्ष चातुर्मास के लिए खाचरोद से सैलाना आ रहे थे। रास्ते मे एक गाँव मे एक भाई सन्तो के छोटे-बड़ेपन का नाप जोख कर रहे थे—अमुक सन्त के पास लोगो के आगमन का ताँता लगा रहता है। बडे चारित्रवान् प्रभावशाली सन्त हैं। अमुक के पास तो बहुत ही कम लोग आते है। हाँ, थोडे-बहुत उनके पास आते हैं, पर अमुक की बराबरी नहीं कर सकते हैं।' कैसी है यह गुण की पहचान ?

फूटी आँख विवेक की, न जाने सन्त-असन्त।
जाके संग दस बीस हैं, ताको कहत महन्त ॥

जिसके पीछे जितने अधिक लोग दौड-धूप करे, वह उतना ही बडा सन्त ! किन्तु ज्ञानी कहते हैं—यह बड़प्पन का सही नाप नही है और न यह वास्तविक यश की कसौटी ही है।

'केशि' कुमार श्रमण

यश-अपयश की प्राप्ति तो यश-अपयश नामकर्म के उदय से होती है और बडप्पन आत्म-गुणो की वृद्धि से प्राप्त होता है। यहाँ आत्म-गुणो की वृद्धि से प्राप्त यश की बात कही जा रही है। 'केशि' कुमार श्रमण ऐसे ही महा यशोधन थे। यों उनकी ओर भी जन समुदाय का तीव्र आकर्षण था। परन्तु सूत्रकार महर्षि की दृष्टि मे वे मात्र इसी कारण से महा यशस्वी नही थे—वे गुणो मे वृद्धि गत थे, इसीलिए यशस्वी थे।

उनका नाम 'केशि' था। उनके बाल बड़े सुन्दर थे, इसलिए उनका नाम 'केशि' हो गया था। परन्तु उन्हे कुमार-श्रमण क्यो कहा गया है ?—

वे कुमार अवस्था मे ही दीक्षित हो गये थे। इसलिए उन्हे कुमार श्रमण कहा गया ।

उनमे दैहिक सौन्दर्य तो था ही—किन्तु आत्मिक सौन्दर्य भी विपुल था। वे 'विज्जा-चरण-पारए'—विद्या और चरित्र मे पारगामी थे। विद्या और चारित्र्य-आत्मिक सौन्दर्य है।

वे आत्मिक सौन्दर्य को पूर्णत प्राप्त करने और—सँवारने मे लगे हुए थे। व्यक्ति अपने शरीर की—सजावट मे कितना समय लगा देते हैं ? बालो को-दाढी को सँवारने मे ही २०-२५ मिनिट लगा देते हैं, किन्तु आत्मा को सँवारने के लिए दस, मिनिट का समय देना भी अखरता है, उन्हें। गुण से रहित बाह्य सौन्दर्य और सजावट की क्या कीमत ?

कुछ प्रश्न और समाधान

इस गाथा से ऐसा आशय निकलता है कि,—श्री केशि महाराज, भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य थे। पर यह कैसे सम्भव हो सकता है ? ये 'केशि' महाराज भगवान् महावीर के समय मे विद्यमान थे। भगवान् श्री पार्श्वनाथ और भगवान् श्री महावीर के बीच २५० साल का अन्तर है। 'केशि' महाराज की इतनी वय थी ? इस शका का समाधान यह है, कि—'सीसे' शब्द का यहाँ साक्षात् शिष्य अर्थ नही है—किन्तु 'परम्परागत शिष्य' है। ऐसा अर्थ करने से सभी शकाएँ निर्मूल हो जाती हैं।

दूसरा प्रश्न है, कि—परदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिकुमार श्रमण और ये-दोनो एक ही हैं, यह भिन्न ? सम्भव है—दोनो एक ही हो और यह भी सम्भव है, कि—दोनो भिन्न हो—इस विषय मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता है।

साधु का वैभव

इस गाथा मे कार्य 'केशि' कुमार श्रमण के बाह्य और आभ्यन्तर वैभव का वर्णन किया गया है। क्या साधु के भी वैभव होता है? कहा तो यह जाता है, कि—'जिस गृहस्थ के पास नहीं कौडो, वह कौड़ी का? जिस साधु के पास है कौडी वह भी कौडी का।' यह बात सत्य है। यहाँ वैभव का अर्थ धन नहीं है। 'केशि' महाराज का बाह्य वैभव शारीरिक सौन्दर्य आदि और आभ्यन्तर सौन्दर्य-विद्या और चारित्र हैं। विद्या और चारित्र के अभाव मे साधु दरिद्र है।

धन-दौलत परिग्रह है। साधु धन को रखता है तो उसके चारित्र्य का दीवाला निकलता है। जहाँ कहीं जिस किसी मे भी धन की पकड़ रहती है, वहाँ उसमे दुर्गुणों का रास्ता खुल जाता है। वह दुर्गुणो का घर बन जाता है। इस परिग्रह-भौतिक साधनो की पकड के अस्तित्व आत्मिक-उत्थान का मार्ग ही प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यग् दृष्टि जीव की दृष्टि मे तो—परिग्रह की उपादेयता खत्म हो जाती है। भले ही' वह विपुल वैभव और परिवार के वीच मे रह रहा हो—उसकी दृष्टि मे न धन का महत्व है, न परिवार का। वाहर से सब-कुछ कहते हुए भी अन्तर से विलग्न रहता है। पिजडे मे वन्द पन्छी की तरह, अवसर देखता है तो उड भी जाता है। उसके कर्त्तव्य के विषय मे कहा गया है—

सम्यग् दृष्टी जीवडा, करे कुटुम प्रतिपाल।
अन्तरगत न्यारा रहे, 'ज्यो' धाय खिलावे वाल॥

असली मा पुत्र की उपेक्षा भी कर देती है। किन्तु धाय उसकी पूरी तरह समाल करती है। वह वालक को खिलाती है, पिलाती है, क्रीडा करवाती है और प्यार दुलार की वर्षा कर देती है, किन्तु वह भूलकर भी उसे अपना बच्चा नही मानती है। इसी प्रकार ज्ञानी कदाचित् परिवार और

वैभव मे रहते हुए उनकी सार-सम्हाल करता है।' तो अपना कर्तव्य समझ-कर, हृदय मे निलिप्त रहते हुए करता है।

साधु के वाह्य परिग्रह तो है ही नही। है तो सिर्फ धर्मोपकरण और शिष्य-परिवार। उनमे भी ममत्व न हो उनकी पकड मे मन न उलझे—इसके लिए उसका यत्न रहता है। वैभव या साधनो की पकड पतन का कारण है। अतः सन्तो का वैभव परिग्रह ही है।

सूत्रकार महर्षि केशिकुमार श्रमण का परिचय दे रहे हैं। इस गाथा के चार पदो मे सक्षेप मे चार बातो का परिचय दिया गया है। पहले पद मे गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख है, दूसरे पद मे लोक मे उनके प्रभाव का, तीसरे पद मे नामके मिस मे उनकी शरीर-सम्पत्ति तथा दीक्षा के समय की वय का और चौथे पद मे उनकी आत्म-सम्पत्ति का वर्णन है। पहले इस गाथा पर सामान्य रूप मे विचार हो चुका है। अब एक-एक विषय पर क्रमश विचार करना योग्य है। प्रथम पद है—'तस्स लोग-पईवस्स'

—उन लोक-प्रदीप (पार्श्वनाथ भगवान्) के (शिष्य थे)

साधना का योग्य-स्थान

चार गतियो मे मानव गति ही ऐसी गति है, जिसमे व्यक्ति अपना चरम विकास साध सकता है। क्योकि मानव भव मे ही व्यवस्थित रूप मे साधना का रूप बन सकता है। अन्य भवो मे साधनो के योग्य कारणों की उपलब्धि ही नही होती है। विभिन्न कारणो की उचित रूप मे फल-निष्पादन के योग्य संयोजना नर भव में ही हो सकती है। किन्तु मानव आत्मोन्नति के लिए जितना साधनो का धनी है, दुर्भाग्य मे उतना ही प्रमाद भी उसके पल्ले पड़ गया है। इसलिए ज्ञानीजन उसे वार-वार चेताते रहे हैं—

अवसर आयो हाथमें रे जीवा! चेत सके तो चेत।
घड़ी अमोलक जाय है रे जीवा! कर सुकृत को सेत॥
चेतनजी! अब चेतजो सुगुणा! आलस दूर निवार।

हे जीव ! यह समय तेरे हाथ लग गया है। ये अनमोल घड़ियाँ बीत रही हैं। यदि तू चेत सकता हो तो इसी समय चेत जा। सुकृत-सत्कर्मों का खेत बना ले। क्योंकि सुकृत का खेत तैयार होगा तो उसमे बोधि रूप बीज डाला जा सकेगा। इसलिए हे प्रिय चेतन ! अब चेत ! आलस्य दूर कर ! साधना के लिए उद्यम करने का यही समय है।

उद्यम का स्वरूप

श्रमण भगवान् महावीर ने देव ने भव्य जीवो को आत्मसाधना के लिए प्रेरणा दी। जो अपने लक्ष्य को साधना चाहते हैं उन्हे कुछ न कुछ उद्यम अवश्य करना चाहिए। उद्यम के बिना कार्य की सिद्धि नही होती है। भगवान् ने उद्यम का स्वरूप विविध दृष्टियो से समझाया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के सम्यग् यत्न का ही नाम आत्म-साधना का सम्यग् उद्यम है।

उद्यम के बाह्य और आभ्यन्तर दो रूप हैं। बाह्य उद्यम अन्य को भी दृष्टिगत होता है, किन्तु आभ्यन्तर उद्यम अपने आत्मा के भीतर ही होता है। बाह्य उद्यम वचन और काय योग के आश्रित है और आभ्यन्तर उद्यम स्थूल रूप से मनोयोग के और सूक्ष्म रूप से आत्मचेष्टा के आश्रित है। बाह्य उद्यम के अवलम्बन से आभ्यन्तर उद्यम को तीव्र तीव्रतम बनाने का सतत प्रयास करना चाहिए। बाह्य उद्यम मे गुरु और शिष्य का सम्बन्ध जगत् मे प्रसिद्ध है। 'तस्स लोगपईवस्स' पद मे उसी सम्बन्ध का उल्लेख है।

उद्यम के विषय मे अन्य दो दृष्टियो से भी विचार करना योग्य है, जिन्हें ज्ञाननय और क्रियानय कहते है। ज्ञानात्मक दृष्टि के अनुसार सत्य-तत्त्व की उपलब्धि के लिए उद्यम की कोई भी प्रक्रिया नही है। प्रक्रिया-साधना की रीतियाँ तो उल्टा मनुष्य को भ्रमजाल मे उलझा देती हैं। सत्य तो अनुभूति के ही योग्य है। वाणी और क्रिया सकल्पो मे उलझाकर सत्य

से दूर लेजाकर पटक देती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो उनकी दृष्टि मे जानना, अनुभव करना ही सत्य प्राप्ति के योग्य उद्यम है या आत्मा का आत्मा मे लीन होना—निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना ही सत्यतत्व की उपलब्धि का उद्यम है। क्रियात्मक दृष्टि इसका विरोध करती है। उसके अनुसार बिना उद्यम के सत्य की उपलब्धि ही नही हो सकती है। सत्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रक्रियाएँ हैं, साधनाएँ हैं। योग्य गुरु से सीखकर योग्य ढंग से साधना मे उद्यम किया जाता है तो उद्यम कभी भी निष्फल नही होता है।

इन दृष्टियो को व्यवहार और निश्चयन के नाम से भी पुकारा जाता है। व्यवहार दृष्टि उद्यम के वाह्यस्वरूप और गुरु को वहुत अधिक महत्व देती है। उसका कथन है, कि—गुरु के अभाव मे व्यक्ति कदाचित् कुछ जान भी ले, किन्तु वह तत्व का मर्म तो कदापि नही जा सकता है। जब कि—निश्चय दृष्टि वाला कहता है, कि—गुरु और बाह्य उद्यम से क्या होना-जाना है? जीव ने ऐसा उद्यम तो अनन्त बार किया। लेकिन अपनी योग्यता के अभाओ मे कुछ भी कार्य सिद्धि नही हुई। यदि मुक्ति की स्वय में योग्यता न हो तो हजार-हजार क्या, अनन्त तीर्थंकर भी उसे मुक्त नही कर सकते।

इस प्रकार से ये विरोधी दृष्टियाँ तत्वज्ञान के अखाड़े में परस्पर द्वन्द्व युद्ध का आव्हान कर के, उलझती रहती हैं। अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के तर्क के तीर पैने रहते हैं। जब वीतराग के समक्ष दोनो दल के प्रश्न उपस्थित हुए हो तो वीतराग प्रभु ने यही समाधान दिया,- कि—'दोनो उलझो मत। एक-एक वात को तानो मत। दोनो की वात सत्य है, किन्तु अपनी-अपनी मर्यादा में। अनेकान्तता मे ही सही समाधान हो सकता है।' सूत्रकार महर्षि ने वीतराग-दर्शन के उस समाधान का सार—'तस्स लोगपईवस्स' पद मे रख दिया है। जैसे दीपक मे जलती तो ज्योति ही है, किन्तु उसमे दिया

तैल, वत्ती, दियासलाई आदि बाह्य साधनो की आवश्यकता रहती ही है, वैसे ही शिष्य सिद्धि तो अपनी योग्यता से ही प्राप्त करता है, किन्तु देव, गुरु, धर्म-अराधना आदि साधनो की आवश्यकता भी है।

कुछ विद्यार्थी निष्णात होते हैं। वे अपनी आशुप्रज्ञा से थोड़े से मार्ग-दर्शन से बहुत उन्नति कर लेते हैं। कुछ को मार्ग-दर्शन की भी आवश्यकता नहीं रहती है, वे केवल गुरु-सान्निध्य से ही अपना कार्य साध लेते हैं। किसी को गुरु-सान्निध्य की भी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु ऐसे जीव थोडे ही होते है, कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं, कि-उन्हें गुरु-सान्निध्य के साथ ही साथ विशेष मार्गदर्शन और कुछ अधिक श्रम करने पर कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है और किसी-किसी को घोरातिघोर परिश्रम करना पडता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी वट्ठर जीव होते है, कि गुरुजन का अत्यधिक श्रम भी उनके उत्थान के लिए साधक नही बनता है। लेकिन ऐसे जीवो के उदाहरण से वाह्य उद्यम और गुरु-निर्देश का निषेध करना, योग्य जीवो को दण्ड देने जैसा है। क्योकि अधिकांश व्यक्तियो की योग्यता भी प्रेरणा पाकर ही विकसित होती है और जैसे जलते हुए दीपक की लौ के समीप योग्य सामग्री से युक्त नही जला हुआ दीपक जाता है तो उसमे यत्किन्चित् समय में अवश्य ज्योति प्रकट होती है, इसी प्रकार गुरु रूप प्रज्वलित प्रदीप के सान्निध्य के सेवन से शिष्य रूप-प्रदीप में भी अवश्य आत्म-ज्योति प्रकट होती है।

गुरु की भक्ति-हेतु-विकास

गुरु भक्ति यद्यपि वाह्य उद्यम का ही रूप है, तदपि वह आन्तरिक शक्ति को जगाने मे समर्थ कारण है। शिष्य योग्य गुरु की सेवाभक्ति से-उनमें अपनी श्रद्धा से अपनी शक्तियो को अत्यधिक विकसित कर सकता है। महाभारत में प्रसग आता है-एकलव्यका। द्रोणाचार्य ने अर्जुन को धनुर्विद्या में पारगत बनाया और कहा—'मेरे छात्रों में अर्जुन से बढ कर अन्य कोई भी

धनुर्विद्या में निष्णात नही है ।' किन्तु जब अर्जुन की भेंट जंगल में एकलव्य से हुई, तब उसका मान खण्डित हो गया । उसने आकर द्रोणाचार्य से कहा, कि–'आपका एक अन्य छात्र भी है, जो हम सबसे श्रेष्ठ धनुर्विज्ञ है ।' द्रोणाचार्य ने कहा–'मेरी जानकारी में तुम ही श्रेष्ठ धनुर्विज्ञ छात्र हो । द्रोणाचार्य अपने छात्रो के सग जाकर एकलव्य से मिले और पूछा–'मैंने तुमको धनुर्विद्या का अभ्यास कब करवाया ?' एकलव्य ने कहा–'मैं आपका परोक्ष छात्र हू । मैंने आपकी भक्ति-पूर्वक स्मृति के द्वारा अपना विकास साधा है ।' द्रोणाचार्य ने उसके दाहिने हाथ का अगूठा दक्षिणा मे मागा और उसने ननु-नच किये बिना अगूठा प्रदान कर दिया । किन्तु कुछ दिन बाद उसने बायें हाथ से ही उस विद्या मे इतनी ही कुशलता प्राप्त करली ।

उसने गुरु को निमित्त बनाये और उनकी भक्ति के माध्यम से अपनी शक्ति को विकसित किया । इस प्रकार साक्षात् गुरु के अभाव मे भी उनकी हार्दिक शक्ति से जीव अपना विकास साध सकता है, तो फिर गुरु भी योग्य हो, उनका सान्निध्य भी प्राप्त हो और शिष्य भी योग्य एव उद्यमशील हो तो आत्मसिद्धि क्यो नही हो सकती है ।

गुरु का स्वरूप

आत्म-साधना मे गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है । किन्तु उस महत्त्वपूर्ण निमित्त का दुरुपयोग भी बहुत हुआ है और आज भी हो रहा है । गुरु के स्थान की महिमा देखकर और उससे स्वार्थसिद्धि होती देखकर, गुण विहीन चालाक व्यक्ति को या साधारण व्यक्ति को भी गुरु बनने की इच्छा जाग्रत हो सकती है । वह ढोग और पाखण्ड का सहारा लेकर पूज्य बनने की प्रवृत्ति अपनाता है । इसलिए साधना के पथ पर बढने वाले साधको को मनीषियो ने इस विषय मे सावधान किया है—

गुरवो बहव सन्ति, शिष्य-वित्ताप-हारका ।
गुरवो विरला सन्ति शिष्य-सन्तापहारका ॥

दुनिया में ऐसे बहुत गुरु हैं, जिनकी दृष्टि शिष्यों के धन पर लगी हुई है और जो शिष्यो का धन, विविध उपायो से अपहरण करने में लगे हुए हैं। ऐसे गुरु इस दुनिया मे विरले ही हैं, जो शिष्यों के सन्ताप को दूर करते हैं।

ऐसे गुर भी क्या गुरु हैं ? जिनकी दृष्टि शिष्य के धन पर लगी हुई है। किसी भी प्रकार से शिष्य का धन अपने अधिकार मे आ जाय—यह चाह जिसके हृदय मे है, वह कदाचित् त्यागी के वश मे हो, पर वह गुरु पद के योग्य नही है—सद्गुरु नही है। उनमे धन-लिप्सा के कारण सद्गुणो का अभाव हो जाता है और दुर्गुणो के ही महालय बन जाते हैं। गुरु पद के योग्य क्यो नही रहते हैं वे ? क्यो कि 'गुरु' शब्द का सामान्य अर्थ है 'भारी'। जो सद्गुणो के भार से—गौरव से युक्त हैं, वे ही गुरु हैं। यों ही मन्त्र दीक्षा देने मात्र से कोई गुरु थोड़े ही बन सकते हैं। ऐसे गुरुओ पर व्यग्य करती-सी एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

काना-माना कुर्र।
तू चेलो ने हूं गुर्र।।

कान में गुरु ने मत्र फूंक दिया। भले ही मंत्र लेने वाले ने मत्र का कुछ आशय ही न समझा हो, किन्तु वह उसका शिष्य हो गया और वह मत्रदाता तारणहार गुरु हो गया। आज 'सम्यकत्व' देने के नाम पर ऐसे ही तमाशे चलते-रहते हैं। न शिष्य का कुछ उत्थान है इसमे और न गुरु का ही कुछ उद्धार है। गुरु को तो अपने भक्तो की सेना बढाने की ही मात्र फिक्र है। इस प्रकार तथाकथित गुरु शिष्यो को अन्धकार से निकाल नही रहे हैं, किन्तु और गाढे अन्धकार मे ले जा रहे हैं। 'गुरु' शब्द के अन्धकार निरोधक रूप अर्थ का उपहास कर रहे हैं।

'गुरु' शब्द मे दो अक्षर है—'गु' और 'रू'। इन दोनो अक्षरो को भिन्न-भिन्न दो शब्द मानकर और समास से युक्त शब्द बनाकर, सस्कृत सुभाषित मे 'गुरू' शब्द का इस प्रकार अर्थ किया गया है—

'गु' शब्द स्त्वन्ध कारस्य, 'रु' शब्द स्तन्निरोधक ।
अन्धकार-निरोधत्वाद्, गुरू रित्यभिधीयते ॥

'गु' शब्द का अर्थ है—अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है—निरोधक अर्थात् दोनों शब्दो का मिलकर अर्थ हुआ —'अन्धकार का निरोधक' । जो व्यक्ति अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करता है, वह व्यक्ति भाव-अन्धकार का निरोधक होने के कारण गुरु कहलाता है ।

अन्धकार को कौन मिटा सकता है? जो स्वयं प्रकाशमान हो । जिसमे प्रकाश नही है—ज्योति नही है—दीप्ति नही है, वह अन्धार को नही मिटा सकता है । इस 'तस्स लोगपईवस्सपद' मे गुरु का स्वरूप अल्प शब्दो मे बड़े प्रभावशाली ढग से बता दिया गया है । ले केशिकुमार श्रमण 'उन लोक प्रदीप' के शिष्य थे । प्रदीप स्व-पर-प्रकाशक है । इसी प्रकार गरू स्व-पर के प्रकाशक होना चाहिए । जैसे प्रदीप स्वय ज्योतिष्मान होकर, अन्य को ज्योति प्रदान करता है अदृश्य पदार्थों को आलोकित करता है, इसी प्रकार जो स्वयं ज्ञान और चरित्र से ज्योतिष्मान हो और अन्य को भी ज्ञान एव चरित्र की ज्योति प्रदान करते हो, वे ही सद्गुरु है—भव सागर से तारक हैं । भगवान श्री पार्श्वनाथ ऐसे ही परम तारक गुरू थे । वे लोक-प्रदीप थे । लोक के अन्धकार को नष्ट करने वाले थे ।

दीपक के प्रकाश से अन्धकारजनित भय नष्ट हो जाते है, वस्तुओ का यथार्थ ज्ञान होता है, भयस्थान, भयकर प्राणी और खतरनाक पदार्थो को देखकर, उनसे बचने का यत्न किया जा सकता है और मार्ग पर सीधे चला जा सकता है, इसी प्रकार जो महान् व्यक्ति अपनी ज्ञानप्रभा से हमारे अज्ञानजनित भयो को नष्ट करता है, जीवादि पदार्थों का सही बोध प्रदान करता है, साधना से पतन के भयस्थान, साधना से गिरने वाले जीवो और साधना में प्रतिकूल द्रव्यादि के स्वरूप को समझाकर, उनसे बचाने का यत्न करता है और सन्मार्ग पर, द्रव्यादि को अपने लक्ष्य मे बाधक न बनने

देते हुए, चलने मे सहयोग देता है– वह सच्चा सद्गुरु है। इस प्रकार 'लोक प्रदीप' पद के द्वारा, सूत्रकार महर्षिने गुरु-स्वरूप का निर्देश किया है।

गुरु-शिष्य की दुराशायें

इस 'लोक प्रदीप' शब्द के द्वारा सूत्रकार महर्षिन गुरु-शिष्य के एक-दूसरे के प्रति रखे जाने योग्य भावो का भी संकेत कर दिया है। जैसे प्रदीप प्रकाश प्रदान करके, उसके बदले मे इतर पदार्थो की अपेक्षा नही रखता है और प्रकाश पाने वाला भी प्रकाश के सिवाय प्रदीप से अन्य कुछ आशा नही रखता है, वैसे ही गुरु को भी अन्य शिष्यो से ज्ञानादि प्रदान करने के बदले भौतिक पदार्थो को पाने की वाछा नही करना चाहिये और शिष्य को भी गुरु से आत्मिक उन्नति मे सहयोग के सिवाय अन्य आशाएँ नही करना चाहिए और जैसे दिये को सुरक्षित रखकर ही उससे प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है, इसी प्रकार शिष्य गुरु का अपने योग्य वैयावृत्य और विनय करते हुए ज्ञानादि प्राप्ति का यत्न करे। किन्तु आज इससे विपरीत अवस्था भी दृष्टिगत होती है। त्यागी शिष्य गुरु की अवहेलना करते हैं तो गुरु भी केवल नाममात्र के गुरु बने रहते हैं और उपासक शिष्यो की गुरु के प्रति और गुरु की उपासक शिष्यो के प्रति कैसी भावना है? कहा है—

गुरु लोभी सिख लालची, दोनो खेले दाव।
दोनो डूबे बापडे, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरु लोभी है और शिष्य लालची है। गुरु विचार करते हैं, कि– शिष्य के अनुकूल रहूगा तो सुख-सुविधा रहेंगी। शाता के साधन जुट जाएँगें। मेरी सस्था मे धन देगे। हमे आदर सत्कार देंगें। हमारी महीमा बढाए गे। इनको कुछ चमत्कार बता दू गा तो अनुरागी भक्त बन जायेंगें। इन्हे कुछ मत्र-तत्र दे दू गा तो मै इनसे जो चाहूगा वह करवा सकू गा। इन्हे इनके मनोनुकूल कुछ कर दूँगा तो ये मेरा आश्रम, स्थानक या कुटिया

बना देंगे। इस प्रकार गुरु का ध्यान है–शिष्य से कुछ ऐंठने का और उपासक भी कहाँ कम हैं ? वह सोचता है– इनके कहे अनुसार कर दूंगा तो ये प्रसन्न हो जायेंगे। ये आशिर्वाद दे देंगे। मालामाल हो जाऊंगा। केस मे जीत जाऊंगा। पुत्र-पौत्रादिक हो जायेंगे। एकाद फीचर बता देंगे। भूत-प्रेत की बाधा दूर कर देंगे। इनका नियम ये जानें अपने को इससे क्या मतलब! अपने को अपने काम से काम। इस प्रकार गुरु लोभ मे गले तक डूबे हुए हैं और शिष्य के रोम-रोम मे लालच बस रहा है। अब दोनो ही एक-दूसरे पर दाव आजमाते हैं। गुरु सोचता है-यह कब मेरे वश मे हो और चेला सोचता है-गुरु की कीमिया कब मेरे हाथ लगे। ये दोनो ही परस्पर एक दूसरे से वांछा करने वाले बापड़े ही है–अनाथ ही हैं न। भले ही सोने की वाञ्छा कर रहे हैं, पर बैठे हैं पत्थर की नाव मे ही–सोना भी तो पत्थर ही है न। क्या पत्थर की नाव पानी पर तैरा सकती है ?–नही। इस प्रकार दोनो ही जब पत्थर की नाव मे बैठे है तो डूबेंगे अवश्य डूबेंगे। लोभ और लालच से डूबे हुए गुरु-शिष्यो का भवसागर से पार होना कदापि सभव नही है।

अन्धे से अन्धा मिला

गुरु आसक्ति के पाश मे जकड़े हुए हैं और शिष्य भी मोह-माया के बन्धन मे बन्धा हुआ है। जब गुरु स्वयं दोषो के शिकार है तो वे अन्य को दोषो के शिकार होने से कैसे बचा सकेंगे! निर्बल निर्बल की रक्षा कैसे कर सकेंगे!

पण्डित जी राजा को नित्यप्रति धर्मकथा श्रवण कराने जाया करते थे। राजा उन्हें दक्षिणा मे प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा देता था। पण्डित जी स्वर्णमुद्रा पाकर बड़े प्रसन्न हो जाते थे। वे राजा को अनेको आशिर्वाद देते। राजा भी आशिर्वाद सुनकर बहुत प्रसन्न होता था।

एक दिन धर्मकथा सुनते हुए, राजा कुछ विचार में डूब गये। उन्हे विचार हुआ–'मैं धर्मकथा निरतर सुनता हू। किन्तु, इसका उपयोग क्या ? जीवन मे अश मात्र भी परिवर्तन नही हुआ है।' कथा समाप्त होने के बाद राजा ने पण्डित जी से पूछा–'पण्डितजी ! धर्मकथा श्रवण करते हुए मुझे इतने दिन हो गये हैं। बचपन में धर्मशास्त्र सुनता रहा हू। काले बाल अब श्वेत हो गये हैं। शास्त्र कण्ठस्थ होने लगे हैं। परन्तु अभी तक विषयो से अरुचि नही हुई। विकारो में मन्दता न आई। इस इन्द्रियजन्य आनन्द को त्यागने की इच्छा नही होती है। इसी मे ब्रम्हानन्द प्रतीत होता है। अरे, नैतिकता की नीव भी गहरी नही है। कई बार ऐन समय पर नैतिकता की आस्था ही पलायन कर जाती है। इतना सुना है और अब सुन रहा हू। फिर भी हृदय नही भीगा। क्या कारण है–इसका पण्डितजी ?'

पण्डितजी विचार मे पड़ गये। क्या दे उत्तर दें-वे इस प्रश्न का। पण्डितजी मौन ही रह गये। राजा ने कहा–'आपको इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देना होगा। यदि आप इसका सही समाधान नही करेंगे तो मैं शास्त्र-श्रवण करना बद कर दूँगा।' पण्डितजी चिन्ता में डूब गये। उन्होने कहा–'राजन् ! इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कुछ समय चाहिए।' राजा ने कहा–'अच्छा, आज नही तो कल ही सही। पर इस प्रश्न का उत्तर मुझे अवश्य चाहिये।'

पण्डितजी घर गये। वे चिन्तित थे। आजीविका जाने का भय था। उनका मन किसी भी कार्य मे नहीं लग रहा था। उनकी व्यग्रता छिपाने पर भी छिप नही रही थी। पुत्र ने पिता की व्यग्रता देखी और देखा चिन्ता से मुरझाया हुआ मुख। उससे नहीं रहा गया। उसने पूछा-'पिताजी ! आज आप दुःखी क्यो हैं ?' 'कुछ नही'–कहकर पण्डितजी ने बात टालना चाही। किन्तु पुत्र बोला–पिताजी ! समस्या को छिपाने से या समस्या से मन ही मन उलझने या छीजने से उसका अन्त नही आ सकता है। कोई बड़ा दुःख भी

हो तो वह किसी से कहने पर हलका हो जाता है।' पण्डितजी का पुत्र तेजस्वी और विद्वान् था। पण्डितजी को भी अपने पुत्र पर गर्व था। उन्होने अनमने भाव से सारी बात कह सुनाई।

पुत्र ने एकाग्र चित्त होकर बात सुनी। कुछ देर विचार किया और फिर हर्ष से बोला—'पिताजी ! कल मुझे राजभवन मे ले चलना। आपके आशिर्वाद से मैं राजाजी के इस प्रश्न का उत्तर सरलता से दे सकूँगा।' पण्डितजी को पुत्र की बुद्धि पर विश्वास था। उन्होने इस विषय मे पुत्र से एकाध बात पूछी और वे निश्चिन्त हो गये।

दूसरे दिन पण्डितजी राजभवन की ओर जाने लगे। पुत्र भी मजबूत रस्सी के दो पिण्डे लेकर साथ हो गया। पण्डितजी को पुत्र के इस आचरण से कुतूहल हुआ। परन्तु उन्होने कुछ नही कहा। दोनो राजभवन मे पहुचे। राजा ने अभिवादन किया। पण्डितजी ने आशिर्वाद दिया। फिर राजा ने कहा—'पण्डितजी ! पहले मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। शास्त्र मैं बाद मे सुनूँगा।'

पण्डितजी ने कहा—'आपके प्रश्न का उत्तर मेरा पुत्र देगा।'

राजा ने ब्राम्हण पुत्र की ओर देखा और कहा—'यह छोकरा मेरे प्रश्न का उत्तर देगा ?'

ब्राम्हण पुत्र बोला—'राजन् ! प्यासा व्यक्ति सरोवर छोटा है या बड़ा है—यह नही देखता ! पानी पीकर, अपनी प्यास बुझा लेता है। इसी प्रकार जिज्ञासु व्यक्ति भी अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने का प्रयोजन ही रखता है।'

राजा ने ब्राम्हणपुत्र को आश्चर्य से देखा। उसकी निर्भयता और तेजस्वी मुखमण्डल देखकर, राजा प्रभावित हो गया। राजा बोला—'अरे ! तुम तो बड़े पण्डित जैसे बातें करते हो। अच्छा, तो दो उत्तर।'

ब्राम्हणपुत्र निर्भयता से आगे बढ़ा और बोला–'राजन् ! सचमुच मे ही आप इस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं ?'

राजा ने कहा–'हाँ ! इसमें क्या सन्देह ।'

ब्राम्हणपुत्र बोला–'इस प्रश्न का सचोट उत्तर पाने के लिए मैं जो कहूँ वह आपको करना पड़ेगा और मेरा कुछ अपराध हो तो उसे क्षमा करना होगा । क्या आपको यह स्वीकार है ।'

राजा बोला–'हाँ ! स्वीकार है ।'

ब्राम्हणपुत्र ने कहा–'अच्छा तो आप इस सिंहासन से उतरकर इस खम्बे के पास खड़े रहिए' और ब्राम्हण की ओर देखकर बोला–'पिताजी ! आप उस खम्बे के पास खड़े रहिए ।'

राजा को कुतूहल हुआ । वह बोला–'यह सब क्या तमाशा है ।'

ब्राम्हणपुत्र–'राजन् ! तमाशा नही, आपके प्रश्न का उत्तर है ।'

राजा सिंहासन से उतरा और खम्बे से सटकर खड़ा हो गया । ब्राम्हण भी दूसरे खम्बे के पास खडा हो गया । ब्राम्हणपुत्र रस्सी लेकर उन्हे बाँधने लगा । राजा बोला–'यह क्या उद्दण्डता है ।'

ब्राम्हणपुत्र बोला–'शान्त रहिए राजन् ! मेरे प्रश्न के उत्तर का आवश्यक अंग है–यह कार्य । इसके लिए मैंने आपसे पहले ही क्षमा-याचना करली है ।'

राजा आश्चर्य से देख रहा था । उसने अपने पिता और राजा दोनो को खम्बे से बाँध दिया और वह एक तरफ खडा हो गया । कुछ क्षण तक राजा चुप रहा । राजा सोच रहा था–'यह अब हमे खोल देगा ।' किन्तु ब्राम्हणपुत्र के अपने स्थान से हिलने के लक्षण भी दिखाई नही दिये । इधर ब्राम्हण भी अपने पुत्र के इस कार्य से हैरान हो रहा था । आखिर राजा ने कहा–'भाई ! अब तो हमे खोल !'

ब्राम्हणपुत्र ने कहा—'आप मेरे पिताजी को कहिए, कि—वे आपके बन्धन खोल दें।'

राजा उसकी ओर देखकर बोला—'वह मुझे कैसे खोल सकेगा?'

ब्राम्हणपुत्र—'अच्छा! आप ही मेरे पिताजी के बन्धन खोल दीजिए।' राजा चिढकर बोला—'कैसी मूर्ख जैसी बात कर रहे हो? वह भी बन्धा हुआ है और मैं भी बन्धा हुआ हूँ। बन्धा हुआ व्यक्ति दूसरे के बन्धन को नही खोल सकता है।'

ब्राम्हणपुत्र बोला—'अच्छा तो क्या मैं आपके बन्धन खोल सकता हू।'

राजा बोला—'हाँ! तू हमारे बन्धन खोल सकता है, क्योकि तू बन्धन से मुक्त है।'

ब्राम्हणपुत्र—'आज आप बन्धे ही रहे तो क्या हानि है?'

राजा—'तू कैसा मनुष्य है? सुनता नही है? अब हमारे बन्धन खोल। हम दोनो ही घबरा रहे हैं।'

ब्राम्हणपुत्र ने दोनो के बन्धन खोल दिये और बोला—'राजन्! मैंने आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया है।'

राजा ने कहा—'क्या उत्तर दिया यह? हमे परेशान कर डाला।'

ब्राम्हणपुत्र बोला—'राजन्! क्षमा करिये। प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह सब करना आवश्यक था। सुनिये—

बन्धे से बन्धा मिला, छूटे कौन उपाय।
सेवा कर निर्ग्रन्थ की, पल मे देय छुडाय॥

राजन्! शान्त बनिये। विचारिये—जैसे बन्धन मे पडा हुआ व्यक्ति अन्य के बन्धन नही खोल सकता है, वैसे ही ससार के बन्धन में—आसक्ति के

बन्धन में पड़ा हुआ व्यक्ति भी अन्य के भव-बन्धन को नही छुडा सकता है। मेरे पिताजी ससार में लिप्त हैं, ऐसी अवस्था मे उनकी वैराग्य-प्रेरक वाणी उनके हृदय से नही निकलेगी। वह वाणी प्रभावशालिनी कैसे बन सकेगी? राजन्! उपदेश के शब्द तो जड़ हैं। उनमें चेतना-प्रेरक शक्ति बोलने वाले की चेतना शक्ति तीव्र-मन्द तारतम्य के अनुरूप आएगी। दूसरी बात और पूछूँ राजन्! जब आप बन्धे हुए थे तब आपको क्या इच्छा हो रही थी—आपकी क्या स्थिति हो रही थी।'

राजा ने कहा—'तूने मुझे कैसा कस कर बाधा था? मैं व्याकुल हो था। बन्धन मुझे असह्य हो रहा था। उस समय मुझे एकमात्र बन्धन से मुक्त होने की इच्छा हो रही थी और हमारे बीच मे तू ही बन्धन से मुक्त था, इसलिए बन्धन से मुक्त होने के लिए तेरी ओर ताक रहा था।'

ब्राम्हणपुत्र बोला—'बस राजन्! इसी प्रकार समझिए, कि—जिसे ससार बन्धन रूप लगता है, उसे ही विषय भोग रूप पाश अप्रिय लगते हैं। वही बन्धन से मुक्त होने के लिए आतुर हो उठता है और बन्धन से मुक्त करने वाले की ओर मुक्त होने के लिए दृष्टि लगाता है।'

राजा और ब्राम्हण दोनो उसके तेजोदीप्त मुख की ओर देख रहे थे और किसी अगम्य भावभूमि मे विचरण कर रहे थे।'

आशय यह है, कि—बन्धन मुक्त निर्लोभी गुरु ही गुरुपद के अधिकारी हैं। 'लोगपईव' शब्द मे यही सकेत है, कि—गुरु मे बाह्याभ्यन्तर त्याग का तेज होना चाहिए।

कुछ अपनी ओर भी देखें

साधक को यह अधिकार है, कि—वह परीक्षा करके गुरु का शरण स्वीकार करे। किन्तु इसका यह अर्थ नही है, कि—छिद्रान्वेषी बन जाना चाहिए। कुछ अपनी ओर भी देखना चाहिए। गुरु चाहे जितने योग्य हो,

पर स्वय योग्य न हो तो गुरु क्या कर सकेंगे ? मूर्तिकार मूर्ति गढता है। पत्थर मे सौन्दर्य राशि को तराशता है। किन्तु परम चतुर शिल्पी भी शिल्प गढने के अति उत्तम साधन होते हुए भी पत्थर खराव हो तो क्या कर सकता है। शिल्पी जहाँ भी टाँची मारता है, वही पत्थर भुरभुराकर खिर जाता है, तो वह मूर्ति निर्माण कैसे कर सकेगा ?

घडने वाला क्या करे ? टाँची मांही टोल।

टाँची के नीचे टोल आयेंगे तो मूर्ति नही वन सकेगी। इसी प्रकार गुरु योग्य हैं, परन्तु स्वय को ससार के वन्धन बन्धन रूप मे भासित ही न हो तो गुरु क्या कर सकते है ? खुद को वन्धन अप्रिय लगे, भोगो से छुटने की आतुरता जागे और विनय आदि गुणो के साथ यत्न मे तत्परता हो तभी गुरु का प्रयत्न भी सफल हो सकता है।

एक कार्य आप भी करलीजिए

विनय से हीन व्यक्ति मे साधना की योग्यता उत्पन्न नही हो सकती है। अभिमानी और आलसी व्यक्ति उद्यम से दूर-दूर भागता है। वह निर्लज्ज और ढीठ वनकर, अपने आदरणीय एवं पूजनीय गुरुजनो की अवहेलना करता है और अपने आपको वड़ा उद्यमी तथा कार्यरत दिखलाने की झूठी चेष्टा करता है।

एक कलाचार्य के पास एक छात्र विद्याध्ययन करने को आया। कलाचार्य से उसने वहुत अनुनय की, कि—उस साधन-विहीन को अपने आश्रम मे स्थान देकर विद्यादान के द्वारा कृतार्थ करें। उन्होंने उस छात्र को अपनी झोंपड़ी मे स्थान दे दिया।

एक दिन सायकाल से ही वर्षा हो रही थी। रात मे भी वूँदावाँदी हो रही थी। कलाचार्य उस छात्र को कुछ अध्ययन करवाकर शयन करने

की तैयारी कर रहे थे। छात्र शय्या पर लेट गया था। आचार्य ने उसे पुकारा। उसने सोये-सोये ही उत्तर दिया--'कहिए, क्या काम है?' आचार्य ने कहा--देखो तो वर्षा थमी या नही?' छात्र ने वही से उत्तर दिया--'बिल्ली अभी-अभी कुटिया मे आई है। उसके शरीर पर हाथ फिराकर देख लीजिए तो पता लग जाएगा।' कलाचार्य ने उसका उत्तर सुना और कुछ विचार मे पड़ गये। सोते हुए उन्होने कहा--'अच्छा भाई! दिया तो बुझा दो।' छात्र ने उत्तर दिया--'आँखें बन्द कर लीजिए। अन्धेरा हो जाएगा।' कुछ देर बाद आचार्य ने उसे पुन: पुकारा--'कुटिया का दरवाजा खुला है। जरा उठकर, दरवाजा बन्द कर दो।' उस समय छात्र ने रोषभरे शब्दो मे कहा--'गुरुजी! मुझे सोने भी देंगे या नही। सब काम मैं ही करता रहूँ क्या? दो काम मैंने कर दिये तो एक काम आप भी कर लीजिए। सारे दिन बैठे रहने से शरीर स्थूल हो जाता है।'

कलाचार्य ने छात्र की यह बात सुनी। वे सन्न रह गये। यह छात्र तो मुझे पढाने आया है--मुझसे पढ़ने नही। मैं इसे क्या पढ़ा सकूँगा और यह क्या ज्ञान ले सकेगा।

आज के छात्र

आप यह कहानी सुनकर हँस रहे हैं। उस छात्र के साथ आज के छात्रो की तुलना करेंगे तो हमे आज उससे भी ज्यादा हास्यास्पद स्थिति दिखाई देगी। आज छात्र आन्दोलनो और धमकियो के द्वारा बिना अध्ययन के ही विद्या का फल प्राप्त करना चाहते हैं। अपने गुरुजन के प्रति उनके हृदय मे कितना गौरव, सन्मान और बहुमान है? न्याय-नीति मे कठोर शिक्षको और निरीक्षको को परीक्षा भवन मे ही उनकी न्याय-नीति का पुरस्कार देने की उद्घोषणा कर डालते हैं और कोई-कोई छात्र तो उन्हे सीधे स्वर्ग तक पहुँचा देते है। कितने समर्थ है--आज के छात्र? विनय को

तो वे दव्बूपन समझते हैं। भगवत्स्मरण को पिछड़े युग बात मानते हैं। उनका साहस तो इतना है, कि—खैर इस विषय मे अधिक कहना वृथा है। क्योकि इस विषय मे सिर्फ छात्रो को ही दोष देना गलत होगा। इस विषय मे अन्य व्यक्ति और आज की स्थितियाँ भी कम उत्तरदायी नही है। स्थितियाँ-परिस्थितियाँ कैसी भी हो, पर जो सच्चा जिज्ञासु हो उसे तो सजग रहना चाहिए। उसे चाकू-छुरियो के बल पर उत्तीर्ण होने की चाह क्यो करना चाहिए? प्रसगवशात् यह कलाचार्य के विषय मे और ससारिक कला के अध्ययन करने वाले के विनय-सौजन्य की बात आ गई अर्थात् कलाचार्य के पास कला आदि के अध्ययन के लिए भी विनय, बहुमान आदि की अपेक्षा है। उन विनम्र भावो से ही वह जिज्ञासु कला मे पूर्ण निष्णात होकर, जीवन मे अपनी प्रभा जगमगा सकता है। तो फिर धर्माचार्य के प्रति विनयादि गुणो की अपेक्षा रहे—और कलाचार्य के प्रति विनयादि से शतगुण अधिक अपेक्षा रहे तो इसमे आश्चर्य ही क्या?

धर्माचार्य के प्रति विनय से लाभ

शिष्य जब निष्कपट भाव से गुरु के प्रति अपने को समर्पित करता है, तभी उसका आत्मोत्थान हो सकता है। जब एक बार गुरु की परीक्षा करके सद्गुरु की शरण मे आ गया तब उनकी आज्ञा का पालन करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। आज्ञा-पालन से उसके आत्मिक उत्थान मे प्रगति हो सकती है। गुरु की आज्ञा का मर्म कभी-कभी आज्ञा-पालन के बाद ही खुलता है। बाहर से अहितकर दिखाई देने वाली आज्ञा से भी उसका हित सध जाता है।

एक साधु को कुष्ट रोग हो गया। कुष्ट रोग के उत्पन्न होने के बाह्य कारणो का साधु-जीवन मे प्राय अभाव रहता है। किन्तु आभ्यन्तर कारण—अशाता वेदनीय का सर्वथा अभाव नही हो सकता है। किसी अशुभ कर्म के

उदय से उस साधु के कुष्ट रोग तीव्र होता गया। उसके धर्माचार्य प्रेम से उसकी सेवा करते थे। कभी अवसर आता है तो शिष्य की सेवा गुरु को भी करना पड़ती है। शिष्य सोचता है–'हा ! कैसी मेरी अधमता है, कितनी परवशता है, जो मैं गुरु से अपनी सेवा करवा रहा हूँ। इस ऋण से मैं किस भव मे मुक्त हो सकूँगा।' गुरु उसे धैर्य देते और कहते–'भाई ! अधीर मत बनो। मन मे सकोच मत करो। हीनता मत लाओ। तुम भी साधक हो और मैं भी साधक हूं। शिष्य गुरु की सेवा करे तो निर्जरा होती है और सेवा के योग्य समय में शिष्य को गुरु सेवा नही करे तो क्या धर्म होगा ? साधक सघ में क्यो रहता है ?–सहयोग देने और साधना मे सहयोग पाने के लिए ही तो।' यह बात सुनकर शिष्य गद्गद् हो जाता। उसकी आँखो से आँसू बहने लगते। गुरु उसके आँसू पोछ डालते और आश्वासन देते–'वत्स ! दु:खी मत बनो। तुम कहाँ यह चाहते हो, कि मैं तुम्हारी सेवा करूँ ? और मैं भी कहाँ तुम्हारी सेवा कर रहा हू ? मैं तो अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूं। क्या अपने आश्रित को मैं शक्ति रहते हुए भी पीडा मे छटपटाते हुए देखता रहू ?' ऐसे वचन सुनकर शिष्य का रोम-रोम कृतज्ञता से भर जाता। उसका सिर गुरु चरणो मे आदर से झुक जाता।

एक दिन आचार्य एक तरफ बैठकर अनुप्रेक्षा कर रहे थे। समीप के प्रकोष्ठ मे बैठा हुआ पीडित शिष्य भी कर्म की विचित्र लीला का विचार करता हुआ सवेग के रग मे डूब रहा था। आचार्य ने कुछ दूर पर एक भयकर फणीधर सर्प को देखा और उन्हें एक दम भासित हुआ, कि–शिष्य के अशाता वेदनीय के उपशमन का क्षण आ गया है और उसका निमित्त सामने ही स्थिर पडा है। उन्होने शिष्य को पुकारा। लडखडाता हुए शिष्य गुरु के समीप उपस्थित हुआ। गुरु ने तत्क्षण आज्ञा दी–'जाओ उस साँप के दाँत गिनो। कितने हैं उसके दाँत ?'

आपको लगता होगा, कि–यह कैसी आज्ञा है ? शायद गुरुजी शिष्य की सेवा से ऊब गये होगे। इसलिए उससे छुटकारा पाने का अच्छा उपाय

सोचा। किन्तु उस शिष्य ने ऐसा कुछ भी नही सोचा। उसने तो यह विचार किया, कि–'बस आज्ञा आज्ञा है। ज्ञानी की आज्ञा निर्थक नही होती है। इस आज्ञा मे भी कुछ न कुछ रहस्य होगा ही।' उसने ज्यादा विचार नही किया और शक्ति नही होते हुए भी कमान से छुटे तोर की भाँति आज्ञा का पालन करने के लिये चल पडा।

साँप मन्द गति से खिसक रहा था। शिष्य ने जाकर, निर्भयता से साँप को पकड लिया। वह उसके मु ह मे उगली डालकर, दाँत गिनने की कोशिश करता है। साँप ऐसा करने देगा क्या ? क्या वह उसका सगा लगता है ? साँप ने काट खाया। वह हाथ से छुटने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु शिष्य उसे छोडता नही है और वह दाँत गिनने का प्रयत्न करता है। साँप ने उसे कई वार काट लिया। दूर वैठे हुये गुरु यह सारा तमाशा देख रहे हैं। आखिर साँप ने जोर मारा। शिष्य के काँपते हुए हाथो से वह छुट गया और एक ओर खिसक कर दृष्टि से ओझल हो गया। शिष्य खिन्न मन से गरु के पास आया और वोला,–'मैं आपकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन नही कर सका। साँप मेरे हाथ से फिसल कर चला गया।' गुरु ने ठीक कहा–'तुम दाँत नही गिन सके ? कोई चिन्ता नही। मैं देख रहा था, कि–'तुमने आज्ञा-पालन का सच्चाई से प्रयत्न किया है। जाओ अब आराम करो।'

शिष्य के देह मे शाति होने लगी। प्रात तक उसे वहुत आराम लगा। शरीर मे शक्ति प्रतीत होने लगी। रोग का मूल्ल नष्ट हो गया। उसे लगा, कि–यह सर्प के विष का प्रभाव है। फिर उसने सोचा, कि–'नही' गुरु-आज्ञा पालन का फल हैं।' वह आचार्य के पास आया और प्रसन्न मन से वन्दना की। गुरु देव ने पूछा–'सुख शाति है ?'

शिष्य वोला–'गुरु देव आपकी कृपा से मेरा रोग नष्ट हो गया।

आचार्य ने कहा–'भाई ! जव मैं अनुप्रेक्षा कर रहा था तव साँप को देखकर, अकस्मात् मेरे हृदय मे भाव स्फुरित हुए, कि– शिष्य के रोग

नष्ट होने का निमित्त प्राप्त होता है। तेरे शरीर मे जड़ विष सज्जित हो गया था, जिससे वह रोग उत्पन्न हो गया था। साँप का विष जंगम विष है। उसने तुम्हारे शरीर मे पहुचकर जड़ विष का प्रभाव समाप्त कर दिया। कुछ दिनो मे तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओगे। तुम्हारे शरीर मे जगम विष प्रविष्ट कराने के लिए ही मैंने सर्प-दन्त गिनने की आज्ञा दी थी 'भाई' उक्ति है, कि—'विषस्य विषमौषधम्'।'

शिष्य ने विनय से पूछा—'गुरुदेव! आपने पहले मुझे इस रहस्य को क्यो नही बताया ?'

आचार्य ने कहा—'भाई' इतना समय ही नही था, कि— मैं तुम्हे इस विषय मे विस्तार से समझाऊँ। मेरे हृदय में तत्काल ही वह बात उत्पन्न हुई थी। अच्छा तो तुमने रहस्य नही जानते हुए भी क्या समझकर आज्ञा का पालन किया।'

शिष्य—'गुरुदेव मैंने सोचा, कि—सद्गुरु का आदेश निर्थरक नही हो सकता है। इस आदेश मे मेरा कुछ न कुछ हित होगा और मुझे आज्ञा पालन का सुन्दर फल मिल हो गया है। कदाचित् यह भौतिक फल न भी मिलता तो भी मुझे आज्ञा-पालन का आत्मिक सन्तोष था ही।'

विभिन्न नयों के समन्वय मे ही हित है

आत्म-साधना में योग्य गुरु के समान ही शिष्य की योग्यना भी अपेक्षित है। अकेले ही गुरु-कृपा व्यक्ति को योग्यता के अभाव मे आत्म-साधना के मार्ग का पथिक नही बना सकती है—यह जितना सत्य है, उतनी ही यह बात भी सत्य है, कि—सद्गुरु और सत्यसाधनो के प्रति उपेक्षा वुद्धि रखकर भी व्यक्ति साधना की योग्यता प्राप्त नही कर सकता है। यों तो साधना मात्र व्यवहार है, चाहे वह आभ्यन्तर साधना हो या बाह्य साधना हो निश्चय की दृष्टि से तो साध्य-साधना कोई भेद ही नही बनता है।

वस्तुतः निश्चय की पृष्ठभूमि में ही– निश्चय के लक्ष्य में ही–व्यवहार सार्थक बनता है और व्यवहार के माध्यम से ही निश्चय फलीभूत होता है–अभिव्यक्त होता है। इसलिए इन दृष्टियों के समन्वय से ही हम वस्तु-स्वरूप को भली भांति जान सकते हैं। जो इन दृष्टियों की एकान्तता के भयस्थानों से परिचित नही होते है, वे एकांशग्राही होकर, वस्तुस्वरूप से मुख मोड़ लेते हैं और अपनी-अपनी तानते हुए साधना के क्रम को भग कर डालते हैं। वे साधना की बात करते हुए भी व्यक्तियों को भ्रमजाल में डालकर साधना-पथ से भ्रष्ट कर देते हैं। अतः सूत्रकार महर्षि ने विभिन्न दृष्टियों का समन्वय करते हुए, अलंकृत शैली में चिन्तन के बीजों को सूक्ष्म रूप से निहित करके उद्घोष किया है––

तस्स लोग पईवस्स आसी सीसे महायसे

–उन लोक प्रदीप के (केशिकुमार श्रमण) महायशस्वी शिष्य थे। जैसे आलोकित दिये से अनालोकित साधन-सम्पन्न दिया नत होकर लौ लगाता हैं तो वह आलोकित हो उठता है। वैसे ही योग्य गुरु को, साधना क्रम को पहचान कर उसमें स्थित साधक, विनीत आराधना से आत्मज्योति को जगा लेता है।

श्री जिनेश्वर देव के मुख से शब्द रूपी फूल खिरते हैं और गणधर-देव उन्हें अपनी बुद्धि रूपी पट में ग्रहण करके, उन शब्द रूपी फूलों की सूत्र रूपी माला गूंथते है और भव्य जीव वह सूत्रमाला अपने कण्ठ में धारण करके, सुखानुभव करते हैं–

'श्री जिनमुख थी फूलडां खरे, गणधर गूंथे तेनी माल रे।'

अद्यापि पर्यन्त वह गणधर ग्रथित सूत्रमाला भव्य जीवों को आनन्दित कर रही हैं। भगवान् महावीर देव के अन्तिम उपदेश के आशय को जिस सूत्रमाला में निबद्ध किया गया है, उस उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन

पर आपके समक्ष प्रवचन चल रहे है । दूसरी गाथा के विषय का स्पष्टीकरण हो रहा है । दूसरी गाथा के पूर्वार्द्धका विषय चल रहा है–

तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महाय से ।

शिक्षा के दो घटक

इस गाथाश मे गुरु और शिष्य के सम्बन्ध मे बात कही गई हैं। जिसका पिछले प्रवचन मे विवरण किया है । शिक्षा के दो घटक हैं–शिक्षक और विद्यार्थी यदि शिक्षक दुर्बल चारित्र्य वाला और दुर्बल ज्ञान वाला हो,तो शिक्षा का आद्य घटक हो न होने के कारण शिक्षा-प्रदान का आडम्बर होते हुए भी अज्ञान की ही वृद्धि होती है । शिक्षार्थी-शिक्षा लेने वाला दूसरा घटक हैं । यदि शिक्षार्थी योग्य न हो तो भी ज्ञान का विनाश होता है । अतः शिक्षा के प्रसार के लिये दोनो घटको की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है । यदि शिक्षक योग्य हो और योग्य विद्यार्थी शिक्षादान कर रहा हो तो दोनों के यश की वृद्धि होती है । 'महायसे' पद से इस गाथा मे यही संकेत किया गया है ।

केशिकुमारश्रमण महायशस्वी शिष्य थे । अपनी गुरु-परम्परा के अनुरूप ही उनका व्यक्तित्व था । उन्होने योग्य गुरु के चरणो मे बैठकर ज्ञान और चरित्र्य की आराधना की थी । 'केशि' महाराज पूर्गत. धर्मार्थी थे । शिक्षार्थी है । उत्कट इच्छा से सम्यग् ज्ञान और धर्म की आराधना के लिए तत्पर हुए थे और वैसा ही उन्हे श्रेष्ठ परम्परा का सहयोग प्राप्त हुआ था । वे अपने गुरु और अपने नाम को यशस्वी बनाने वाले महान् तपोधन सन्त थे ।

यश की चाह

वे महान् यशस्वी थे । किन्तु उन्हे यश की चाह नही थी ।

यश, बड़े आदमियो की एक बहुत बडी कमजोरी है। वे अपने यश के लिए—मान के लिए अनर्थ तक कर गुजरते हैं। यो तो व्यक्ति मात्र मे प्रशसा पाने की इच्छा होती है और दुनिया मे यश वृद्धि के लिए, व्यक्ति कितने प्रयत्न करता है! मान के लिये व्यर्थ में धन फूंक दिया जाता है-मरने-मारने की तैयारी हो जाती है। योग्यता हो चाहे न हो, परन्तु सत्कार-सन्मान अवश्य होना चाहिये। किसी ने अपमान किया हो या न किया हो, परन्तु अपने मन में किसी के द्वारा अपमानित अनुभव करने पर कैसी-कैसी प्रतिक्रियाए होती हैं। कोर्ट में मानहानि के केस चलते हैं। अमुकने अपमान किया है—यह सिद्ध करने के लिये वकीलो को फीस और गवाहो को धन दिया जाता है। केस योग्य प्रमाण न हो तो नकली प्रमाण तैयार किये जाते है या लडाई पैदा की जाती है। दलवन्दियाँ की जाती हैं। कलह के समर खड़े किये जाते है। यह यश की चाह क्या-क्या अनर्थ नही करवा डालती है? व्यक्ति न कष्ट-सहिष्णु बनना चाहता है, न विनम्र होना चाहता है और न किसी की सेवा आदि करना चाहता है, किन्तु वह येन केन प्रकारेण यशस्वी बनना चाहता है-पूजनीय बनना चाहता है-बड़ा बनना चाहता है। क्या बड़े यो ही बन जाते हैं? बड़े बनने के लिए कितना कष्ट सहन करना पड़ता है? कहा है—

बड़े की आत्म-कहानी

पहले हम थे मर्द मर्द से नार कहाये
कर गगा मे स्नान, मैल सब धोय बहाये।
कर सिल्ला से युद्ध, घाव बरछी के खाये
हुए समुन्दर पार, मर्द के मर्द रहाये ॥

खाने के बड़े बनते हैं। काहे के बनते हैं?—मूंग के या चँवले के। मूंग और चँवला पुल्लिग है। किन्तु जब उन्हे दल दिया जाता है, तब वे

दाल रूप मे स्त्रीलिग बन जाते हैं। उन्हें गलने के लिए गगा मे-शुद्ध जल में डुबकी लगानी पडती है। फिर सिल-बत्ते-के या चक्की के पाटो के बीच मे मुलायम बनने के लिए हड्डी-पसली तुडवानी पड़ती है। अब परिपक्व होने के लिए तैल के खौलते हुए कडाह रूप मे समुद्र की उछलती तरगो मे खद-बद-खदबद करते हुए तैरना पडता है। इतने दु खो मे मानो कमी रह गई हो उसे पूर्ण करने के लिए उलटने-पलटने मे हमे बरछी के घाव खाने पडे। इतने कष्ट सहे, तब कही जाकर मर्द बने और 'बड़े' कहलाये।

यह खाये जाने वाले बडे की कहानी है। इस कहानी के बहाने बड़प्पन पाने की प्रक्रिया का वर्णन कर दिया गया है। बडा बनने के लिए पहला आवश्यक गुण है-स्त्रीत्व का वरण अर्थात् जैसे सुगृहिणी सबको भोजन कराने के बाद भोजन करती है, सबके शयन करने के बाद सोती है और सबमे पहले उठकर, गृहकार्य मे लग जाती है, इसी प्रकार जो जोति के बन्धुओ के हित की, अपने हित से पहले, चिन्ता करता है, अन्य को आराम देने के बाद अपना आराम चाहता है और सघ, समाज, जाति या देश के का र्य मे आगे रहता है उस व्यक्ति मे ही बडप्पन का पहला गुण आया है। बडप्पन का दूसरा गुण है–गगा मे स्नान अर्थात् निष्पाप वृत्ति का वरण। मन का कालुष्य धोने के लिए नैतिका मर्यादाओ का दृढता से पालन। तीसरा गुण है–दो पाटो के बीच अडिगता से हड्डी-पसली तुड़वाना अर्थात् सघर्षों के बीच में अडिग रहते हुए नम्र, कोमल और मृदु बनते जाना। चौथा गुण है–खौलते हुए कडाह मे तैरना अर्थात् लोक:अपवाद को सामान्य प्रतिकार करते हुए पार करना और पाँचवाँ गुण है--बरछी के प्रहार सहना अर्थात् जिनके हित के लिए प्रवृत्त हुए हो, उनके द्वारा अज्ञान से प्रयुक्त कटूक्तियो को शान्ति से सहने के लिए तैयार रहना।

इतने गुणो को धारण करने वाला ही बडा बन सकता है। बड़प्पन के गुण हो तो यश सहज ही मिल जाता है। यश न तो मागने से मिलता है

और न लड़ने से। जो यश के योग्य नहीं उसे कदाचित् यश मिल भी गया तो न उसमें जनसमूह का हित है और न उसका कल्याण है। तात्पर्य यह है, कि—योग्य व्यक्ति बड़प्पन या यश की पीछे नहीं भागता है, किन्तु बड़प्पन और यश उसके पीछे पड़ जाते हैं। किन्तु वह उनकी ओर देखता तक नहीं है।

मैं बड़प्पन की दौड़ में पिछड़ गया

जिसमें योग्यता होती है, उसे गौरव स्वय वरण करता है।

इसी उत्तराध्ययन सूत्र के पहले अध्ययन में 'विनय' विषय में महत्व-पूर्ण बातें बतलाई गई हैं। उसमें आई हुई—अणा सवा यूलवया कुसीला गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए, व्याख्याकारों में से किसी एक ने एक सुन्दर कथा की योजना की है। वह अपने विषय के अनुकूल होने के कारण आपको सुना देता हूं—

एक आचार्य बड़े ज्ञानी थे। आचार में भी दृढ़ थे। किन्तु उनमें क्रोध की मात्रा बहुत अधिक थी। जरा-जरा-सी बात के लिए वे क्रोध से उबल पड़ते। मन के प्रतिकूल उन्हें कुछ भी सहन नहीं होता था। इसलिए उनका नाम ही चण्डरुद्राचार्य पड़ गया था। उन्हें भी अपने उग्र स्वभाव के विषय में चिन्ता रहती थी। उन्हें विचार होता—'अरे! मैं साधु बना। बाह्य पदार्थों का त्याग कर दिया। तपश्चरण भी कर रहा हूं। फिर भी मेरा स्वभाव इतना उग्र क्यों है? मैं भी दुःखी होता हूं और शिष्यों को भी दुःखी करता हूं। इस स्वभाव को कैसे मोड़ूं? मेरे कोई भी यत्न सफल नहीं हो रहे हैं। मुझे कषाय के निमित्तों से ही दूर रहना चाहिए। मुझे एकान्त में ही विशेष रहना चाहिए, जिससे मैं शिष्यों के क्रिया-कलाप को देखूं ही नहीं और मुझे क्रोध का निमित्त मिले ही नहीं।' यह सोचकर आचार्य एकान्त में विशेष रहने लगे। वे प्रायः शिष्यों से दूर ही बैठते।

वे अपने शिष्य-मण्डल के साथ एक नगर के बाहर उद्यान मे ठहरे हुए थे। उस समय कुछ युवक भी उद्यान मे भ्रमण करने के लिये आए हुए थे। उन्होने साधुओ को देखा। वे युवक आपस मे हँसी-मजाक करते हुए, साधुओ के पास पहुच गये। उन्हे साधुओ के साथ भी चुहल करने की सूझी। उन्होने एक युवक को, जिसने विवाह की केसरिया पोशाख पहन रखी थी, आगे कर दिया और बोले– महाराज ! इसके माता-पिता ने जबर्दस्ती से विवाह कर दिया है, किन्तु यह साधु बनना चाहता है। इसे आप दीक्षा दे दीजिए।'

वह युवक भी हँसते हुए बोला–'हाँ, महाराज, दीक्षा दीजिए।'

साधुओ ने उनकी बात अनसुनी कर दी। उन युवको ने पुन. वही बात दुहराई और हँसने लगे। साधु बोले–'भाई ! हँसना सरल है, परन्तु करना कठिन है।'

युवक बोले–'महाराज ! हमारे मित्र को दुर्बल समझ रखा है क्या ? यह तो परम वैरागी है ?'

साधुओ ने देखा यह वृथा ही स्वाध्याय मे विघ्न कर रहे है, तो उन्होने टालने के लिए कहा–'भाई ! हमतो छोटे साधु हैं। हम दीक्षा नही दे सकते हैं। हमारे आचार्य उधर बैठे हुए हैं, वे दीक्षा दे सकते हैं।' यह कहकर, दूर बैठे हुए आचार्य की ओर सकेत किया।

युवा वय मस्ती की वय है। वे तारुण्य में प्रविष्ट ही हुए थे। इस वय मे हँसी-मजाक की वृत्ति ज्यादा रहती है। वे युवक कौतिक की तरंगो पर चढ रहे थे। वे आचार्य के पास पहुच गये। उन्होने वहाँ पर वे ही हरकतें शुरू की। प्रारम्भ मे तो आचार्य ने हँसी समझकर, उनकी बात टाल दी। किंतु जब वे पुनरावृत्ति करने लगे तब उन्हें आवेश आ गया। वे बोले– 'कौन दीक्षा लेना चाहता है, आओ आगे।' युवको ने हँसते हुए नवविवाहित युवक को आगे करके कहा–'महाराज ! यह साधु बनना चाहता है।'

आचार्य बोले—'विना आज्ञा के हम साधु नही वना सकते हैं।' कोई युवक वोल पड़ा—'महाराज ! हमारी आज्ञा है।'

अब आचार्य का क्रोध वढ गया। उन्होने कहा—'अच्छा, तो आओ मेरे पास ! अभी देता हूं दीक्षा !'

नवविवाहित युवक हँसता हुआ आचार्य के पास चला गया। आचार्य ने कहा—'उतारो, तुम्हारी पगड़ी ! और करो सिर नीचा !' उसने पगडी उतार दी और सिर नीचा कर दिया।

युवक अभी तक हँसी ही समझ रहे थे। वे समझ रहे थे, कि—महाराज भी अपनी हँसी मे सम्मिलित हो गये हैं। किन्तु महाराज तो कोई दूसरी ही माटी के वने थे। उन्होने उस युवक का सिर अपने घटनो के बीच ले लिया। युवक अभी भी यही समझ रहे थे, कि—हँसी ही चल रही है। आचार्य ने उसका केश-लोच प्रारम्भ कर दिया। आचार्य ने इतने जोर से उसका मस्तक पकडा, कि—वह छुडा ही नही सका। लोच आगे वढ़ने लगा। युवक ताकते रह गये। हँसी भारी पड गई। वे घवडाये और भयभीत होकर, भाग गये। पहले उस युवक ने भी अपना सिर छुडाने की कोशिश की और फिर वह भी ढीला पड गया। मानो अपने अपराध का दण्ड भुगतने के लिए अपने आपको समर्पित कर दिया हो। वह विचार करने लगा—'हँसी-हँसी में यह क्या हो गया ? शिष्ट जन की हँसी क्यो की ? अब पूज्यजन की हँसी का फल भुगतना ही चाहिए।' वह खेद और पश्चाताप के विचारो मे वहने लगा। यो तो वह वलिष्ठ देह वाला था। चाहता तो आचार्य से अपने को छुडा सकता था। किन्तु तप से कृश देह वाले आचार्य मे क्रोध के कारण वहुत अधिक वल आ गया था। युवक भी हतप्रभ होकर पश्चाताप की अग्नि मे जल रहा था। वह उच्च सस्कार-सम्पन्न आत्मा था। तभी उसे पूज्यजन के प्रति किये गये उपहास का पश्चाताप हो रहा था। वह विचारो मे वहता रहा और इधर मस्तक के वाल सव उतर गये और आचार्य ने

उसका मस्तक छोड़कर साँस लेते हुए कहा—'मैं यह दीक्षा दे दी और करना हंसी !'

युवक मौन था। हृदय मे विचारों का तूफान उठ रहा था। वह सोच रहा था—'क्या अब घर जाएँ ? मैंने दीक्षा माँगी और आचार्य ने दी। मैंने भले ही हँसी में माँगी। किन्तु हँसी-हँसी मे मांगने पर भी यदि अनमोल वस्तु मिलती हो तो कौन छोड़ता है ? क्या मस्तक मुंडित हो जाने के बाद मैं अब गृह-ससार मे प्रवेश करूँ—यह योग्य है ?' उस युवक का विचार मोड़ ले रहा है। कौन ऐसा विचार कर सकता है ? युवावय भोग-लालसा की वय है। क्या ऐसी वय मे बलात् भोग त्यागने की इच्छा हो सकती है ? वह यदि घर जाना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है ? अरे ! सयम त्यागकर जाने वाले को भी कोई रोक नही सकता है, तो वह सयमी तो था नही। उसने संयम की इच्छा से मस्तक का मुण्डन भी नहीं करवाया था। अभी विवाह के ककण भी नही खुले थे। हृदय मे ससार-सुख की उमगे थीं। सुन्दर नववधु अभी घर पर आई ही थी। क्या उसके हृदय मे नव-नव आशाएँ अगड़ाइयाँ नही ले रही होगी ? ससार-सुख की तृष्णा से वह बिल्कुल मुक्त हो गया क्या ? फिर भी वह क्या सोच रहा है ? देखो, भव्य आत्मा के उत्थान का योग सहज मे कैसे मिल जाता है और वे उसे कैसे बधा लेते हैं ? वह सोच रहा था—'क्या सहज में मिले हुए रत्न को यो ही फेंक दूँ ? जिसे रत्न की पहचान न हो, वह उसे फेंककर उसके लाभ से वञ्चित हो सकता है। किन्तु जौहरियो के कुल मे जन्मे हुए बालक को तो रत्न की पहचान कुछ न कुछ रहती ही है। वह क्या सहज सुलभ रत्न को यो ही गवा सकता है। मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। आत्मोत्थान के लिए देह का उत्सर्ग करने वालो की पावन जीवन-गाथाएं मैं बचपन से सुनता आया हूँ। मुझे सहज मे प्राप्त सयम-लक्ष्मी को बधा लेना चाहिए।' यह सोचकर उसने आचार्य को वन्दना की और शान्त भाव से बोला—'गुरुदेव !

आपने मुझ पर बहुत बडा उपकार किया। मैं विषयो की अग्नि मे झुलसने जा रहा था। किन्तु आपने मुझे कृपा करके उबार लिया। अब मैं अपनी इच्छा से सयम स्वीकार करता हू। जीवन भर के लिए मैं त्याग मार्ग को स्वीकार करता हूं।

आचार्य का क्रोध शान्त हो गया था। अपने द्वारा घटी हुई इस घटना पर वे विचार कर रहे थे। अपने क्रोध पर उन्हे पश्चाताप हो रहा था। युवक की बात सुनकर उन्हे आश्चर्य हुआ। वे उसकी ओर देखने लगे। युवक—नही, अब युवक मुनी बोल रहे थे—

'भन्ते ! आपने जो किया है, वह मेरे लिए अच्छा ही किया है। किन्तु मेरे कुटुम्बीजन इसे अच्छा मानने के लिए तैयार नही होंगे। वह राजमान्य कुटुम्ब है। इस घटना की बात कुछ ही क्षणो मे उन तक पहुच जाएगी और हो सकता है, कि—उन्हे यह बात सुनकर आवेश आ जाय तथा वे आपके लिए कोई कष्ट कर कार्य न कर बैठें। इसलिए गुरुदेव ! हमे अभी ही अन्यत्र चलना होगा।'

आचार्य बोले—'भाई ! दिवस का अन्तिम पहर बीत रहा है। इस समय कहाँ जाएगे।' युवक मुनि बोले—'गुरुदेव ! अभी यह सोचने का समय नही है। जल्दी करिये। अभी विहार करना ही योग्य है।' आचार्य भी सहमत हो गये। अन्य सन्तो को वही छोडकर गुरु-शिष्य वहाँ से रवाना हो गये। दोनो अरण्य मे बढ़ते हुए चले जा रहे हैं। कुछ दूर चलने के बाद सूर्यास्त हो गया। शिष्य कह रहा था—'गुरुदेव ! अभी यहाँ ठहरने का अवसर नही है, आगे बढिए।' कुछ देर बाद अन्धेरा हो गया। रास्ता उबड-खाबड था। आचार्य को ठोकरें लगने लगी। उनका तप से जर्जर शरीर लडखडाने लगा। शिष्य ने हाथ पकड़ कर सहारा दिया। फिर भी आचार्य का कष्ट बढने लगा। उन्हे क्रोध आने लगा। वे गुस्से मे बोल रहे थे—'तेरे कारण मुझे यह कष्ट भोगना पड़ रहा है।' कैसे दुष्ट हो तुम ? मुझ सुखी को

दुःखी बना दिया।' युवक मुनि सोच रहे थे—'गुरुदेव ! यथार्थ बात कह रहे हैं। मेरे कारण ही इन्हें यह कष्ट भोगना पड रहा है। नियम के विरुद्ध कार्य करना पड रहा है। मैं इन्हे कन्धे पर उठा लू' तो इनका कष्ट कम हो जाएगा।' वह आचार्य से बोला—'आप मेरे कन्धे पर बैठ जाइए, तो आपको कम कष्ट होगा।'

युवक मुनि ने आचार्य को कपने कन्धे पर विठा लिया अन्धेरा था। रास्ता स्पष्ट दिख नही रहा था। ठोकर लग जाती तो आचार्य को बहुत पीडा होती। वे क्रुद्ध होकर बुरा-भला कहने लगते। युवक मुनि कही ऊँची-नीची भूमि के कारण पैर बराबर नही सभाल पाते। गिरते-गिरते बचते। आचार्य गुस्से ही गुस्से मे उनके मस्तक पर चपत जमा देते और बोलते-'दुष्ट ! तूने मेरी तपस्या भग कर दी।' नवदीक्षित मनि को सद्य लुन्चित सिर पर प्रहार होने से पीडा होती। किन्तु वे विचार करते—'गुरुदेव ! का कहना बिलकुल ठीक है। मैं ही इनकी शान्ति-भग करने का निमित्त बना। मैं हसी नही करता तो गुरुदेव को इतना कष्ट नही उठाना पडता—अपने नियम के विपरीत कार्य नही करना पडता। मुझे धिक्कार है।' मस्तक पर थोडी-थोडी देर मे प्रहार हो रहा था। शिष्य क्षमाभाव मे रम रहा था।

युवक मुनि शान्ति से मार्ग पर, सभल सभल कर चल रहे थे। देह पृथ्वी के पंथ पर चल रहा था और आत्मा मोक्षमार्ग पर चल रहा था। क्षमा के अवलम्बन से मुनि क्षयक श्रेणी पर आरूढ हो गये। वे मोहनीय कर्म का क्षय करने लगे। देह की गति मन्द हो गई। किन्तु आत्मा ध्यान-धारा के माध्यम से कर्मक्षय के मार्ग मे तीव्रता से बढ़ रहा था। मोहनीय कर्म क्षय हो गया। अन्य तीन घाती कर्म भी क्षय हो गये और युवक मुनि केवली बन गये। उनके ज्ञान में लोकालोक के भाव पूर्णतः प्रतिबिंबित होने लगे। अब युवक मुनि के लिए रास्ता अन्जान नही रहा। वे आचार्य को कन्धे पर उठाये हुए शान्ति से मार्ग पर बढ़ रहे थे।

आचार्य को शिष्य के चलने मे अब भेद दिखाई दिया। अब न ठोकर लगती है और न ऊचे-नीचे पैर ही गिरते हैं। आचार्य ने कहा—'अब तो बिल्कुल ठीक चल रहे हो ! मार से बुद्धि ठिकाने आगई !'

केवली मुनि बोले—'हाँ ! मुझे अब रास्ता दिख रहा है।'

आचार्य आश्चर्य से बोले—'इस घोर अन्धकार मे तुम्हे रास्ता दिख रहा है ! क्या तुम्हे कोई ज्ञान प्राप्त हुआ है।' आचार्य के मन मे कई विचार उठ खड़े हुए।

केवली मुनि बोले—'हाँ ! आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ है।' आचार्य ने पूछा—'प्रतिपाति (प्राप्ति के बाद न आने वाला) ज्ञान प्राप्त हुआ है या अप्रतिपाति (प्राप्ति के बाद न आने वाला)।' केवली मुनि ने एक शब्द मे उत्तर दिया—'अप्रतिपाति।' आचार्य ने पूछा—'तो क्या केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है।' केवली मुनि ने कहा—'जी ! हाँ !'

आचार्य पश्चाताप मे डूब गये—'हाँ ! मैं इतना वर्ष का संयमी और ये एक दिन का सयमी ! मुझमे क्षमा का लेश नहीं और ये क्षमा के अवतार ! हाय ! मैंने चरम शरीरी जीव—केवली भगवान् की आशातना की।' आचार्य युवक मुनि के कंधे से नीचे उतर गये।

केवली मुनि ने स्वयं आचार्य को कंधे से नीचे नही उतारा था और न स्वयं आगे होकर अपने को केवल ज्ञान प्रकट होने की बात ही कही थी। केवली भी अपने उपकारी का योग्य विनय करते हैं। आचार्य केवली मुनी से क्षमा याचना करने लगे—'हे महान् आत्मन् ! मेरे अपराधो को क्षमा करो। धन्य है आपको ! धन्य है आपके पुरुषार्थ को ! अल्पकाल मे ही आपने अपना कार्य सिद्ध कर लिया। धिक्कार है मुझे, कि—इतने काल तक चारित्र का पालन करते हुए सम्यग् श्रुत का विशिष्ट अभ्यास करके भी अपनी उग्रता को नहीं छोड़ सका ! क्रोध पर जय प्राप्त नही कर सका ! क्षमा॰

भाव मे नही रम सका ! आपको मैंने बहुत कष्ट दिया। मुझे क्षमा-करो ! मुझे क्षमा करो !'

केवली भगवान् बोले—'आपने मेरा कुछ भी अपकार नही किया है। आपने मुझे अपने कर्मों को क्षय करने मे सहायता दी है। आपके निमित्त से ही मैं उत्थान साध सका।'

आचार्य बोले—'यह तो आपकी महत्ता है ! किन्तु मैंने जो अपराध किये हैं, उसकी सफाई के बिना मेरा उद्धार कैसे हो सकता है।' आचार्य पश्चाताप की अग्नि में दग्ध हो रहे थे। उनका हृदय शुद्ध और स्वच्छ हो रहा था। जैसे स्वर्ण अग्नि मे पड़कर, निर्मल हो जाता है, वैसे ही वे आचार्य भी पश्चाताप की अग्नि से उज्जवल-उज्जवलतर होते जा रहे थे। अपने दुष्कृत की गर्हा और केवली भगवान् के गुणो की अनुमोदना करते हुए, उन्हे अपूर्व भावधारा की प्राप्ति हुई। उस अपूर्व भावधारा के माध्यम से क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया और वे भी केवली बन गये। शिष्य के मृदु व्यवहार ने उन्हें भी उत्थान के शिखर पर पहुचा दिया।

आचार्य बड़े थे और शिष्य छोटा था। किन्तु बड़प्पन की दौड़ मे आगे कौन निकल गया ?

अणमांग्या मोती मिले

कैसा था—शिष्य का बड़प्पन और कैसा था आचार्य का बड़प्पन ! आचार्य परमात्म-पथ के पथिक थे। किन्तु शिष्य तो अनायास ही आत्म-साधना के मार्ग का पथिक बन गया था। बड़प्पन की माग नही की थी। पर परमोच्चता के पथ पर चल पड़े थे। अनन्त काल से जिस मार्ग को तय नही कर पाये थे, उस मार्ग को अल्प काल मे सहज मे ही तय कर लिया। परन्तु ऐसी सहजता भी क्या बिना योग्यता के आ सकती है ? शिष्य के

बड़प्पन ने आचार्य को भी योग्यता से युक्त बनाकर, बड़प्पन के चरमोत्कर्ष तक पहुचा दिया। बड़प्पन मांगने से नही योग्यता से ही प्राप्त हो सकता है। कहा है—

अणमांग्या मोती मिले, मांगी मिले न भीख।

जिसमे योग्यता है, उसे बिन मागे ही मोती मिल जाते हैं और जिसमे योग्यता नही है, उसे मागने पर भी जुवार-बाजरा भी भीख में नही मिल सकता है। अभिमानी व्यक्ति अकड़ से सत्कार- सन्मान प्राप्त करना चाहता है। किन्तु भगवान् ने कहा है, कि—जिस वस्तु का अभिमान किया जाता है, वह वस्तु व्यक्ति के हाथ से निकल जाती है और कदाचित् प्राप्त भी होती है तो तुच्छतम रूप मे प्राप्त होती हैं। आशय यह है, कि—जो मान के उच्च शिखर से नीचे उतरता है, वही उच्चता के परमोच्च शिखर पर पहुंच सकता है। जो आत्मा क्षमा मे रम जाता है तो उसकी क्षमा ही उसका बड़प्पन हो जाती हैं। कम से कम जिसमे चार गुण होते हैं, वह लोगो मे आदरणीय हो जाता है—

प्रसन्न दृष्टि रु शुद्ध मन, मुख में मीठे वैन।
विनयवान धनहीन भी, लाये पूजा-चैन॥

प्रसन्नता से भरी हुई दृष्टि, शुद्धमन, मधुर वचन और विनय—ये चार गुण जिस व्यक्तित्व के अंग बन गये हो, वह व्यक्ति निर्धन होते हुए भी पूजनीय बन जाता है और उसे भी आत्म शाति प्राप्त होती है।

जिसका मन शुद्ध है, उसका हृदय भी प्रसन्न रहता है। हृदय की प्रसन्नता दृष्टि मे भी प्रसन्नता भर देती है। जिसका मन शुद्ध है, हृदय और दृष्टि प्रसन्न है, उसके मुख मे कटुक वचन नहीं निकल सकते है और विनय इन तीनो गुणो को फलकृत करता है। विनय सभी गुणो का राजा है और अन्य गुण विनय गुण की प्रजा है। वस्तुत. विनीत का मन ही शुद्ध हो सकता

है और उसे ही सच्ची प्रसन्न और वाणी की मीगस वरदान के रूप मे प्राप्त हो सकती है। जिसकी आत्मा मे इन गुणों ने स्थायी निवास कर लिया है, उस व्यक्ति के समक्ष तीन लोकका ऐश्वर्य और प्रभुत्व भी तृण तुल्य है। फिर व्यक्ति के अपूर्व शाति के सागर में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है ! ऐसे शानि सागर में ही अक्षय गुण के मक्तिक की लीपियाँ उत्पन्न होती हैं।

गालियां भी वरदान है

सदा शान्त रहने वाला, प्रसन्न दृष्टि वाला, शुद्ध हृदय–वाला और विनयवान मधुरभाषी व्यक्ति, कटु से कटु बात में भी मधुरता घोल देता है। वह विपरीत से विपरीत प्रसगो को सुलटा लेता है। उलझन विकट परिस्थितियो को सुलझा लेता है और गालियो को 'वरदान' रूप में मान लेता है। उसे कोई गाली देते हुए कह रहा हो, कि–'तेरा सत्यनाश हो' तो वह सोचता है–इससे मुझे आशीर्वाद दिया है। सत्य का तो कभी विनाश होता ही नही है। इसने यही तो कहा है। 'सत्यानाश' शब्द मे दो शब्द हैं–सत्य-अनाश। जो सत्य का पालन करता है उसका कभी भी विनाश नही हो सकता है। मुझे तो इस शब्द का सर्वनाश अर्थ ठीक नही लगता है। यह शब्द गाली नहीं है मंगलमय आशीर्वाद है। कदाचित् मान लें, कि–इस शब्द का अर्थ सर्वनाश' है तो क्या किसी के कहने से मेरा सर्वनाश हो जाएगा ? आत्मा का सर्वनाश तो पापकर्म के उदय से होता है। किसी के कहने से ही मेरे पाप का उदय हो जाएगा क्या ? भगवान ने तो कहा है, कि–स्थिति परिपक्व होने पर ही धर्म का उदय होता है। यदि उनके गाली देने पर मैं अपने मन में मलिनता लाऊँ तो मेरी हानि है और प्रसन्न ही रहूंगा तो लाभ है–मेरे अशुभ कर्मा का क्षय होता है।'

कोई यदि उसे कहे, कि–तू अकर्मी है' तो वह विचार करता है, कि–कर्म से मुक्त तो सिद्ध भगवान् ही हैं। अरे ! यह क्रोध में भरा हुआ होने पर भी मेरे लिए कैसी सर्वोच्च शुभकामना व्यक्त करता है !

कोई इसकी निन्दा करता है या अपवाद करता है तो वह सोचता है, कि—शरीर का मैल कौन उतारता है? बालक के शरीर पर मैल जम जाता है तो माता उसका मैल उतारती है। वह रोता है तो उसे मनाती है, फुसलाती है; किन्तु उसकी काया के मैल को वह उतारती है। इस प्रकार ये जन भी मेरी माता के तुल्य हैं। ये मेरे अपयश नामकर्म रूपी मैल को धो रहे है तो मुझे इनका उपकार ही मानना चाहिए।'

जिनकी ऐसी विचार-पद्धति है, उसकी प्रसन्नता को कौन छीन सकता है? ज्ञानी कहते हैं, कि—सरल विचार वाले जीव स्वयं भी प्रसन्न रहते हैं और अन्य को भी प्रसन्न बना देते हैं।

अग्नि का नीर और नीर की अग्नि

जिसके अन्तरग में प्रसन्नता है, शाति है, आत्म-गौरव के अनुरूप आत्म-रमणता है, वह बाहर भी उन भावो को प्रसारित करता है। वह प्रशान्त आत्मा अग्नि को भी नीर में परिवर्तित कर देता है। बाह्य जगत् की हलचल या प्रचण्ड अग्नि उसके अन्तर्मन में पैठ ही नही सकती। शात आत्मा अग्नि मे बैठकर भी अग्नि से अछूता रहता है। उसके आसपास के बाह्य जगत में भी अधिक काल तक विपरीत स्थिति नही रह सकती। या तो वह उस स्थिति से परे हो जाता है या वह स्थिति ही बदल जाती है। शूली का सिंहासन हो जाता है। अग्नि कुण्ड पद्म-सरोवर बन जाता है। इससे विपरीत जिसके हृदय में प्रसन्नता नही है-शाति नही है, उसके लिए सुख शय्या भी कण्टकशय्या बन जाती है। वह नीर को भी अग्नि बना देता है। अशात जीव नन्दनवन को भी मरुभूमि में बदल देता है। यश की चाह सन्तप्त अशात मन वाला जीव पद्मसरोवर को भी धधकती अग्निकुण्ड बना डालता है। वस्तुतः जिसके मन में हीनता है, वह कही भी शात नही रह सकता है। उसके लिए शांति के हेतु अशाति के हेतु बन जाते है। वह यश

के लिए तड़पता है, किन्तु उसे यश पाकर भी अपयश की ही अनुभूति होती है और जो व्यक्ति हृदय से सम्पन्न है–अन्तरंग वैभव से गौरवशाली है, उसके गौरव को छीनने की किसी मे भी शक्ति नही है । उसके लिए सर्वत्र सदा आनन्द ही आनन्द है ।

यूनानी दार्शनिक सुकरात अपनी पूर्ववय में बड़ा क्रोधी व्यक्ति था । अपनी इच्छा विपरीत कुछ भी होता देखकर, वह आगबबूला हो जाता था । इच्छा से लिप्त अभिमानी व्यक्ति क्षण-क्षण में क्रोध के आवेश मे फस जाता है। सुकरात को अपनी यह स्थिति खटकी । उसने विशिष्ट साधना के द्वारा अपने आप पर आधिपत्य पा लिया । अब उसकी अवस्था शांत थी । किन्तु सुकरात की पत्नी बहुत क्रोध स्वभाव वाली स्त्री थी । एक दिन सुकरात अपने घर के बाहर बैठे हुए, किसी मित्र के साथ वार्तालाप कर रहे थे । स्त्री किसी कारण से नाराज हो रही थी । वह गालियाँ दे देकर सुकरात को बुरा-भला कह रही थी । सुकरात ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नही दिया । इससे उसकी स्त्री के गुस्से में तीव्रता आ गई । उसने जूठन का कुण्डा सुकरात के मस्तक पर पटक दिया । किन्तु सुकरात इस प्रकार बैठा रहा कि–मानो कुछ भी नही हुआ । उसके समीप बैठा हुआ व्यक्ति आश्चर्य से उसकी ओर ताकने लगा । तब सुकरात ने कहा–'बादल गरजते हैं और बरसते नहीं है तो शांति नही होती है । गर्जना के बाद वर्षा होती ही है । इसमें आश्चर्य की कोई बात नही ।

उसी सुकरात से किसी को मजाक करने की सूझी या द्वेष के कारण उसे नीचा दिखाना चाहा । वह सुकरात को बातो में उलझाकर, गुलामो के बाजार में ले आया और जहाँ गुलाम बिकते थे, वहाँ खड़ा कर दिया । किसीने आकर पूछा–'तुम बिकना चाहते हैं । क्या विशेषता है तुम मे । हम तुम्हे खरीदना चाहते है । अतः हमें तुम्हारी योग्यता बताओ ?

सुकरात परिस्थिति को तुरंत समझ गया। उसने संयत भाषा में शान्ति से उत्तर दिया—'मैं एक अच्छा शासक बन सकता हूं। किसी को शासक की आवश्यकता हो तो वह मुझे खरीद सकता है।'

कभी शासक का क्रय हो सकता है? नहीं। खरीदा तो गुलाम ही जाता है। विशेषता पूछने वाला क्रेता और मजाक करनेवाला व्यक्ति—दोनो ही सुकरात की बात सुनकर स्तब्ध रह गये—लज्जित हो गये और सुकरात मुस्कुराता हुआ वहाँ से चल दिया। यदि सुकरात उस समय क्रुद्ध हो जाता तो इससे विपरीत स्थिति हो जाती। जिस गौरव से वह वहाँ से रवाना हो गया—क्या वह क्रुद्ध होकर, उसी गौरव के साथ रवाना हो सकता? लोग उस पर हँसते और वह अपने आपको हीन तथा लज्जित अनुभव करता।

जो अपने आत्म-गौरव के प्रति सजग है, जो गुण-वृद्धि से ही अपना गौरव समझता है, जिसका बड़प्पन पराश्रित नहीं है और जिसका मन हीन से हीन परिस्थितियों में तृप्त होकर, हीन नहीं बनता है, उसके गौरव को कौन धूमिल कर सकता है—कौन छीन सकता है? उसकी शान्ति को कौन भंग कर सकता है? इससे विपरीत सुकरात की स्त्री जैसे जीव के लिए शान्ति के हेतु-बड़प्पन के हेतु भी अशान्ति और हीनता के हेतु बन जाते हैं।

यशः कार्य का प्रेरक

व्यक्ति यह जानता है, कि—किसी के द्वारा अपनी प्रशंसा से हमें कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं होती है। किन्तु फिर भी व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है। यह यश की चाह बहुत से अच्छे-अच्छे कार्यों की प्रेरक रही है—इसमें इन्कार नहीं किया जा सकता। व्यक्तियों ने अपने यश के लिए-कुल की कीर्ति के लिए- धर्म, जाति, देश या शासन की कीर्ति के लिए

अपने प्राणो तक का उत्सर्ग कर दिया है और आज भी ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो हमे लगेगा, कि—यश भी युग-युग से व्यक्तियो के लिए सत्कार्यों का प्रेरणा-स्रोत रहा है। इसीलिए ये उक्तियां चली आ रही हैं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जांइ पर वचन न जाई॥

इसीलिए भगवान् ने भी सात भयो में एक भय-अपयश भय गिनाया है। उपदेशक भी व्यक्ति के इस भाव को पहचान कर, उसे इस भाव के माध्यम से प्रेरणा देने मे नहीं चूके हैं। प्रायः कहा जाता है, कि—व्यक्ति की स्थूल काया अमर नहीं है, किन्तु उसकी यश काय अमर है। इसलिए कोई ऐसा काम कर जाओ, कि—संसार तुम्हें भूले नहीं। संसार मे वैभव स्थिर नहीं है, किन्तु यश स्थिर है। महल-मन्दिर शाश्वत् नहीं है, इनपर अन्य का अधिकार हो सकता है, इन्हे कोई भी गिरा सकता है, किन्तु कीर्ति के कोट शाश्वत् हैं, इन्हे कोई नहीं गिरा सकता है। कहा है—

नामी रहे संसार में, नाणा नाहिं रहंत।
कीरति के करो कोटड़ा, पाड्या नाहिं पडंत॥

परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यश की चाह जितनी सत्कार्यों की प्रेरक बन सकती है, उतनी ही या उसमे भी प्रबल असत्कार्यों की प्रेरक भी बन सकती है। यश की चाह ईर्ष्या, क्रूरता, माया, हिंसा आदि की जननी भी बन सकती है।

---

१. कुछ करम है कहानी, तू बुलबुला ज्यों पानी।
कोई ऐसा काम करजा, जो भूले ना जमाना॥

क्या यश अमर है

क्या यश शाश्वत् है ? यश किसे कहते हैं ?—अपने नाम की महिमा की भूख या नाम की महिमा को ही यश कहते हैं। जब नाम ही अमर नही है-शाश्वत् नही है तो उसकी महिमा कैसे शाश्वत् होगी ! इस ससार-प्रवाह मे किसका नाम रहा है ! आपको पूछे, कि—आपके पिताजी का क्या नाम था, तो आप बता देंगे। आप अपने पूर्वजो की दो-तीन या सात पीढी तक नाम बता देंगे। परन्तु इसके आगे आप नाम बताने मे असमर्थ हो जाएंगे ! क्या अपने पूर्वजों का नाम कायम रखना नही चाहते हैं ? अरे ! अपना नाम चलाने के लिए पुत्र नही हो तो लोग दत्तक पुत्र लाते हैं। परन्तु क्या क्या यह सम्भव है, कि—किसी का नाम कायम रहे ? विचार करो, कि अपने पहले कितनी पीढियां बीत गई हैं। यदि आप ससार को अनादि मानते हैं तो आपके पहले अनन्त पीढियां हो गई हैं—यह भी आपको मानना होगा। उनके नाप कायम रहे क्या ? कायम रहे—यह सम्भव भी है क्या ? शास्त्र तो यह कहते हैं, कि—अतीत मे अनन्त-अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं। क्या उनके नाम ज्ञात है—हमे ? ऐसे समर्थ पुरुषो का भी नाम नही रहा, तो हमारी क्या गिनती है ? सृष्टि का क्रम ही ऐसा है कि—वह पिछले नामो को मिटाती चलती है। ऐसी कल्पना से हमारा मन दुःखता है। किन्तु यह हमारा मोह है। अत. शास्त्रो के माध्यम से हमे यह समझना चाहिए, कि—आत्मगुणो मे रमणता ही वास्तविक यश है और निज मे निज की स्थिति रूप यश ही शाश्वत् है।

लोगों से प्राप्त होने वाला यश कदापि शाश्वत् नही हो सकता है। क्योंकि पीढियां बदलती रहती हैं। उनकी कामनाएँ बदलती रहती हैं। यश का मानदण्ड बदलता रहता है। लोगों की दृष्टियां बदलती रहती हैं। इस बदलते हुए संसार में यश कैसे स्थिर रह सकेगा ! अतः हमे केवल यश से

प्रेरित होकर, या इतिहास में हमारा नाम अमर रहेगा—इस भावना से प्रेरित होकर अपने कर्त्तव्य का निर्णय नही करना चाहिए। अपने आत्मभान को-अपने शाश्वत् आत्म-गौरव को नही भूलना चाहिए। यश के पीछे हमे नहीं दौडना चाहिए। हमारा आत्मकार्य करते हुए, यश हमारा अनुगमन करे तो भले करे!

केशिमार श्रमण आत्म-साधक थे। वे यश के पीछे दौडने वाले जीव नहीं थे। फिर भी उनका यश फैला। वे महा यशोधनी थे। परन्तु उन्होंने उस यश के साथ आत्मत्व स्थापित नही किया। अपने गुण-गौरव में ही प्रगति करते रहे।

श्रेय और प्रेय

संसार के जीवो की क्रियाओं के समस्त लक्ष्य-बिन्दुओ को दो शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है। वे शब्द हैं—श्रेय और प्रेय। जो स्थूल लाभ से ऊपर उठकर और भौतिक आकर्षणों को लेकर, आत्महित की दृष्टि से क्रियारत हैं, वे जीव श्रेय की साधना में लगे हुए हैं और जो आत्महित को समझे बिना, इन्द्रियो के आकर्षणो मे उलझकर, उन्हीं की तृप्ति के लिए क्रियाशील हैं, वे जीव प्रेय की साधना में लगे हुए हैं। अपने कल्याण की कामना दोनो ही प्रकार के जीव करते हैं। किन्तु प्रेय-साधक जीव की कल्याण-भावना अति सचित होती है। इस जीवन से परे उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। वह सोचता है, कि—पारलौकिक दृष्टि वाले जीव ससार की उन्नति के पथ के रोडे हैं। उसके कल्याण का स्वरूप है-भौतिक सुख को उपलब्धि और उन्नति है, इन्द्रियो के अनुकूल साधनो को जुटाना तथा प्रतिकूल साधनो से दूर रहना और यदि इस जीवन से आगे भी जीवन है तो वहां भी ऐसे ही सुख के साधन मिल जायें—इस हेतु से हो सके तो कुछ उपाय कर लेना। इससे विपरीत श्रेय-साधक इहोक और परलोक मे बने

रहने वाले शाश्वत् तत्व के उत्थान को केन्द्र-विन्दु मानकर आपने आचार को व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। वे श्रेय अर्थात् आत्महित को ही प्रधान मानते हैं। वे श्रेय के लिए इस लोक के सुखों को त्यागने में तत्पर रहते हैं। श्रेयभाव प्रयत्न-साध्य है—आन्तरिक पुरुषार्थ की प्रबलता में ही प्राप्त होता है। जब कि प्रेयभाव वैभाविक दशा में स्थित जीवों के लिए सहज साध्य है। प्रेयभाव के संस्कार जन्म-जन्मान्तर से जमे हुए हैं। अतः जीव प्रत्येक योनि में जन्म लेते ही प्रेय की ओर ही प्रवृत्त हो जाता है। अनन्त काल के संस्कारों से आच्छन्न जीवों की दृष्टि में प्रेय ही श्रेय है। उनके प्रेय और श्रेय में कुछ भी भिन्नता नहीं है। वस्तुतः यह प्रेय और श्रेय रूप वर्गीकरण भी श्रेय दृष्टि वाले जीवों के द्वारा ही किया गया है। इस वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, कि—प्रेयभाव से प्रेरित जीव अधिक हैं और श्रेयभाव से प्रेरित जीव अत्यल्प हैं। श्रेय भाव साधक भी पूर्व-संस्कारों के कारण प्रेय की ओर आकर्षित हो जाते हैं। अतः उन्हें पूर्व-संस्कारों को क्षीण करने के लिए विशेष सजग रहना पड़ता है। अपने श्रेयभाव को पुष्ट करने के लिए उसका पुनः पुनः स्मरण और श्रेय को प्राप्त श्रेय के अधिपतियों तथा उनके उपदेशों का पुनः-पुनः स्मरण करना पड़ता है। अभी जो स्तुति की गई थी उसमें यही दृष्टि रही हुई है—

जपूं मैं श्रीश्रेयांस जिनेश।
श्रेय रूप प्रभु श्रेय के कर्त्ता, जग जन के परमेश।
भवि जीवों के हेतु तुम्हारा, श्रेय रूप आदेश। ॥जपूं॥

—हे भगवन् ! हे श्रेयमति श्रेयांसनाथ जिनेश्वर ! मैं आपका जाप करता हूं। क्यों कि मैं भी श्रेयस् के पथ का पथिक हूं। हे जगत्-जनों के परमेश ! आप श्रेय रूप श्रेय के ही करनेवाले हैं। श्रेय को वरण करने की योग्यता वाले जीवों के लिए आपका श्रेयरूप प्रेय के मिश्रण से शून्य कल्याण रूप आदेश है।

प्रेय ही संसार है

जब तक जीव पर प्रेयभाव का प्रभाव रहता है तब तक वह श्रेयस् की साधना निर्मलता से नही कर पाता है। प्रेय उसे ससार की ओर खींच कर ले जाता है। वस्तुतः प्रेय को ही संसार कहे तो अत्युक्ति नही होगी। शास्त्र का वचन है—

जे आवट्टे से गुणे।
जे गुणे से आवट्टे॥

जो ससार है वह गुण—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श है और जो गुण है वह ससार है।

गुण इन्द्रियों के विषय हैं और विषयो मे रममाणता का नाम ही प्रेय है। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो हम इसी निर्णय पर पहुचेंगे कि—विषयों मे आत्म-रमणता ही संसार है—सूत्रकार की दृष्टि मे आवर्त है। आवर्त अर्थात् पानी के प्रवाह मे पडने वाला भँवर। प्रवाह के भँवर मे पड जाने वाला व्यक्ति अपने प्राणो से हाथ धो बैठता है। इसी प्रकार प्रेय-रूप इस संसार-चक्र या भँवर मे पड़ने वाला जीव अपने भावप्राणों को खतरे मे डाल देता है।

श्रेय के साधक केशि महाराज

आपके सामने श्रेय और प्रेय का वर्णन करने का यही आशय है, कि—श्रेय और प्रेय की सही पहचान हो और श्रेय और प्रेय के साधकों का स्वरूप समझ मे आ जाय। श्रेय के महान साधक महाराज 'केशि' कुमार श्रमण के व्यक्तित्व का वर्णन चल रहा है। तेईसवें अध्ययन की दूसरी गाथा के पहले और दूसरे चरण मे उनके भव्य व्यक्तित्व का निर्देश किया गया है। तीसरे चरण मे उनकी शरीर-सम्पत्ति और श्रेय की साधना को प्रारम्भ

करने के काल का निर्देश है और चौथे चरण मे श्रेय-साधना के उपादान का वर्णन है। गाथा के पूर्वार्द्ध का विवेचन पहले हो चुका है। गाथा का उत्तरार्द्ध यह है ––

केसिकुमार समणे, विज्जा-चरण-पारगे ॥

–'केशि'कुमार श्रमण विद्या और चरण के पारगामी थे।

तीसरे पद मे तीन शब्द हैं–केशि, कुमार और श्रमण 'केशि' उनका नाम है। कुमार और श्रमण दोनो शब्द मिलकर एक शब्द बन जाता है–'कुमारश्रमण'। यह 'कुमारश्रमण' शब्द उनके साधना के प्रारम्भ करने के काल को सूचित करता है।

'केशि' शब्द का अर्थ : शरीर-सम्पत्ति

केश शब्द से केशिन् या केशि शब्द बना है। जिनके केश अर्थात् बाल अतीव सुन्दर होते उसे सुकेश या केशि सज्ञा से पुकारा जाता था। केशि' महाराज के बाल बचपन से ही सुन्दर थे। अत. उनका नाम 'केशि' हो गया था। यह सज्ञा उनके सौन्दर्य को बतलाती हैं और उनके शारीरिक बाल का संकेत करती है। वे बचपन से ही सुन्दर और स्वस्थ थे। क्यो कि घने, काले, चिकने, मुलायम, दृढ़ और सुन्दर केश प्राय स्वस्थ और सुन्दर व्यक्ति के ही हो सकते हैं। क्योकि बालो का सफेद हो जाना, झड जाना, विरल हो जाना, कमजोर होना आदि देह की दुर्बलता, सौन्दर्य की हीनता, वयकी परिपक्वता आदि के सूचक माने जाते हैं। अतः हम उनके 'केशि' नाम से यह अनुमान कर सकते हैं, कि–वे अवश्य ही देहके वैभव से युक्त रहे होंगे। साधना सौन्दर्य के साथ विशेप सम्बन्ध नही है, किन्तु दैहिक बल से सम्बन्ध अवश्य है और दैहिक बल तो असुन्दर शरीर मे भी रह सकता है। इसी 'उत्तरज्झयण' सुत्त मे हरीकेश बलमुनिका वर्णन आया है।

वे सौन्दर्य की दृष्टि से हीन थे। उन्हे देखकर लोगो ने उनके रूप के विषय मे 'दिसरूवे, काले विकराले फोक्कानासे' अर्थात् दैत्यरूप, काला-कलूटा, विकराल, वैठी नाकवाला आदि शब्द कहे थे। किन्तु साधना की दृष्टि से व्यक्तित्व अतीव रमणीय था। अतः सौन्दर्य और साधना मे परस्पर कोई खास सम्बन्ध नही है। यो तो श्रावक के इक्कीस गुणो में एक गुण रूवव-रूपवान् भी गिनाया गया है। जिसका अर्थ यह लिया गया है–कि स्पष्ट और सबल सम्पूर्ण इन्द्रियो वाला*। रूपवान् के ये लक्षण कुरूप व्यक्तियो में भी घटित हो सकते हैं। क्योंकि इन्द्रियों की पूर्णता, सबलता और स्पष्टता कुरूप व्यक्ति मे भी हो सकती है और साधना मे इन लक्षणो से युक्त देह की ही अपेक्षा रहती है। अत यहाँ जो 'केशि' महाराज के शरीर सौन्दर्य की बात कही गई है, वह साधना की दृष्टि से नही, किन्तु उनके पुण्य की विशिष्टता की दृष्टि से कही गई है। यदि निम्न कोटि के पुण्य के फल-स्वरूप सुन्दर और सबल देह प्राप्त होती है तो वह सबलता और सौन्दर्य उन्नति का हेतु न होकर अवनतिका हेतु बन जाता है। सुन्दर व्यक्ति अपने सौन्दर्य की जलती-शिखा मे कई मुग्ध व्यक्ति रूप पतगो को दग्ध कर डालता हैं और सबल व्यक्ति किसी का अवलम्बन बनने के बजाय किसी के सहारो को नष्ट करने वाला बन जाता है। किन्तु 'केशि' महाराज ने उत्तम कोटि के पुण्य के फल रूप मे सबल और सुन्दर शरीर पाया था। अत. वे उसका स्व-पर के हित मे उपयोग करने मे समर्थ बन सके। जैसे धन-वैभव व्यक्ति को गर्विष्ट बनाता है वैसे शरीर-वैभव भी व्यक्ति को मदोन्मत्त बनाने में निमित्त बनता है। इसीलिए भगवान् ने 'रूप-मद' और 'बलमद' को आठ मदो मे गिनाया है। 'केशि' महाराज का रूप और बल विशिष्ठ था। शरीर-वैभव के स्वामी अवश्य थे, पर उसका नशा उन्हें नही छाया था। अर्थात् उनकी देह-सम्पत्ति अति निर्मल, उत्कृष्ट, और विपुल थी, जो उनकी आत्म-साधना मे बाधक नही, किन्तु सहायक बन रही थी। ऐसा अर्थ ध्वनित होता है–उनके नाम और पद से।

सुन्दर और सबल मानव अपने सौन्दर्य और बल को सँवारने और सहेजने मे लगा रहता है। फिर भी सौन्दर्य और बल उसे छोड़कर पलायन कर जाते हैं। वस्तुत सौन्दर्य और शक्ति स्थिर है ही नहीं। 'केशि' महाराज ने यह मर्म अच्छी तरह से हृदयगम कर लिया था। इसलिये उन्होने शरीर-वैभव को सहेजने और सँवारने की चिन्ता नहीं की। शरीर वैभव की अत्यधिक चिन्ता रखने वाले व्यक्ति उसका दुरुपयोग कर डालते है। लेकिन 'केशि, महाराज ने अपने शरीर वैभव का सदुपयोग किया। सौन्दर्य और बल की चिन्ता मे अन्ध व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट करके भी अपने शरीर-वैभव की वृद्धि करना चाहते हैं, जबकि केशि महाराज अपने शरीर-वैभव का उपयोग, स्व-पर को हितकर साधना में कर रहे थे। वे सच्चे अर्थों मे शरीर-वैभव के स्वामी थे।

कुमार श्रमण

'केशि' महाराज कुमारश्रमण थे। कुमार और श्रमण दोनों शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं। इन दोनो शब्दो का एक शब्द बनाकर सूत्रकार क्या सूचित करना चाहते हैं? कुमार वय का सूचक शब्द है। वय-विशेष को कुमार-अवस्था कहते है। तो क्या यह 'कुमार' शब्द 'केशि' महाराज की वयका सूचक है। कर्मो को क्षय करने के लिये तपश्चर्या रूप श्रम को करने वाले व्यक्ति को श्रमण कहते हैं। 'कुमार श्रमण' शब्द का अर्थ होगा—'कुमार वय वाला साधु'। तो क्या 'केशि' महाराज उस समय कुमार वय वाले ही थे? नही उस समय वे कुमार वयवाले नहीं थे। किन्तु जिस समय वे साधु बने उस समय कुमार वयवाले रहे होंगे।

कुमार शब्द का दूसरा अर्थ होता है—अविवाहित अर्थात् केशि महाराज अविवाहित अवस्था में दीक्षित हुए थे। वे बाल ब्रम्हचारी थे। कुमार शब्द का तीसरा अर्थ है—पिता की विद्यमानता वाली वय अर्थात् जो अभी

गृह का उत्तराधिकारी नही बना है, पिता की देख-रेख में ही गृहकार्य होता है या पिता विद्यमान हैं और जिसे गृह का उत्तराधिकारी रूप मे घोषित नही किया उसे 'कुमार' कहते हैं। 'केशि' महाराज के प्रसग में प्रथम अर्थ—जिसमें द्वितीय और तृतीय अर्थ गर्भित हो जाता है—विशेष उचित प्रतीत होता है।

वय के स्तर और कुमार-अवस्था

मनुष्य की वय के विभिन्न स्तर हैं। १ से ७ वर्ष की वय को प्राय. शैशवकाल कहा जाता है। ८ से १६ वर्ष तक की वय को बाल्यकाल, १६ से २१ वर्ष तक किशोर, २२ से ४० वर्ष तक यौवन ४२ से ६० वर्ष तक प्रौढवय और ६० के पश्चात् वृद्धवय कही जाती है। यह बात जन-साधारण की दृष्टि से कही गई है। इसमे मतभेद भी हो सकता है। ८ से १६ वर्ष तक की वय मे बहुत ही तीव्र गति से विकास होता है। १६ से २५ वर्ष तक की वय में विकास की गति कुछ मन्द हो जाता है और २५ से ४० वर्ष तक की वय तक विकास का ऐक स्थिर स्तर बन जाता है। ४० वर्ष की वय तक प्राय शारीरिक और मानसिक विकास चरम बिन्दु तक पहुच जाता है। ४० वर्ष की वयके पश्चात् विकास नही होता, किन्तु बुद्धि आदि की परिपक्वता आती है। फिर तो शरीर आदि का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

आठवें वर्ष से सोलहवें वर्ष तक बालक का चतुर्मुखी विकास होता है उस समय विकास की रूपरेखाएं बन जाती हैं—ढांचा निर्मित हो जाता है, वही विकास का स्वरूप आगे के लिए स्थिर हो जाता है—ऐसा कई विशेषज्ञों का मत है। वस्तुतः शिक्षण का काल भी वही है। उस समय बालक जो बातें अपनी प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करता है, वे दृढ़ हो जाती हैं। आगे तो उनमे विकास, सस्कार या विकार होता रहता है। यो तो बालक जब से कुछ समझने लगता है, तभी से उसकी प्रज्ञा कुछ न कुछ ग्रहण करती रहती

है। इसीलिए प्राचीन समय मे सम्पन्न घरो मे विशिष्ट विज्ञ और सस्कार-सम्पन्न धात्रियो द्वारा और विविध भाषाविशारद दास-दासियो के द्वारा बालक का पालन-पोषण होता था। परन्तु बुद्धि की विशिष्ट धारणा शक्ति, गर्भ के नवमास सहित आठवे वर्ष मे प्रायः विकसित होती है, इस लिये अधिकतर आठवें वर्ष में प्रवेश करने पर, प्राचीन समय मे प्रायः बालक को पढ़ाने के लिए कलाचार्य को सौंपा जाता था। आज भी स्कूली शिक्षण के लिए करीब-करीव यही वय प्राय निर्धारित है। इस प्रकार हम देख सकते हैं, कि—सोलह वर्ष तक की वय बहुत ही महत्पूर्ण हैं—बौद्धिक विकास की दृष्टि से।

प्राय तेरह-चौदह वर्ष की वय से एक नाजुक स्थिति प्रारम्भ हो जाती है—जो यौवन मे प्रवेश करते समय तक या उसके कुछ समय बाद तक की भी बनी रहती है। इधर शारीरिक और मानसिक विकास के कारण उसके अन्तर्जगत् में कुछ खलबली मचना प्रारभ हो जाती है। यदि उस समय में कुसग का योग हो जाता है तो वह शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक पतन की ओर अग्रसर हो जाता है और इस वय मे उसके मन का समाधान-कारक सत्संग प्राप्त हो जाता है तो वह उन्नति की ओर गतिशील बन जाता है। शास्त्रो ग्रन्थो के परिशीलन से विदित होता है, कि—उसकाल में सोलह वर्ष की वयमे पहुचे हुए बालक का बौद्धिक स्तर या समझ का स्तर सामान्य वय प्राप्त व्यक्ति के समकक्ष प्राय मान लिया जाता था। इसीलिए सोलह वर्ष की वय के पश्चात् शिक्षण के लिए ताडन-तर्जनका नीतिकारो निषेध किया है।

इस समस्त वर्णन का तात्पर्य है—कुमार-वयका निर्णय करना। कुमार वय के लिये स्पष्ट रूप से वर्ष सख्या का निर्देश कहीं आया भी हो तो या तो वह मुझे स्मरण नही है या वह मेरी दृष्टिपथ में नही आया है। इसलिये उस काल की शिक्षण-पद्धति के कालक्रम और सामाजिक स्थिति को दृष्टि मे रखते हुए, कुमारवय का निर्णय करना योग्य है। उस काल मे

आठ से सोलह तक की वय सामान्य रूप से शिक्षण काल था। उसके बाद उन्मुक्त-बालभाव और यौवन को अनुप्राप्त स्थिति मानी जाती थी। सोलह वर्ष की वय के बाद बालक पढकर, कलाचार्य के पास से अपने घर आ जाता था, अत. आठ वर्ष की वय से लगाकर, सोलह वर्ष की वय के बाद जहाँ तक विवाह नही हो जाता था, वहाँ तक की वय को उस काल की मान्य कुमारावस्था मानना योग्य लगता है। इसी अवस्था के बीच के किसी वर्ष में 'केशि' महाराज दीक्षित हुए होगे। इसी बात का सूचक उनका 'कुमार श्रमण' विशेषण है। उन्हे अल्पवय मे ही सत्सग का उचित फल प्राप्त हो गया।

एक पहेली

केशि महाराज के 'कुमार श्रमण' विशेषण से यह विदित होता है, कि—वे अल्पवय में ही दीक्षित हो गये थे। इससे एक प्रश्न उपस्थित होता है कि—साधना के योग्य वय कौनसी है? इस प्रश्न के विषय मे विचार करने से पूर्व मैं आपके सामने एक पहेली रख रहा हू, उस पर विचार कीजिये—

कच्चा फल रलियामणा, गदंल बहुत मिठास।
'तुलसी' वह फल कौनसा, पक्के पर कडवास॥

कवि पहेली रख रहा है, कि—कच्चे फल प्रायः सुन्दर नहीं होते हैं। अद्धंपक्व फल भी प्राय. बहुत मीठे नही होते हैं, पकने पर ही फल मीठे होते हैं। किन्तु एक फल ऐसा है, जो कच्ची अवस्था मे बहुत सुन्दर लगता है, अर्द्धपक्व अवस्था मे अति मीठा लगता है और पक जाते हैं तो कड़वा हो जाता है। बताओ वह फल कौनसा है? आप भी विचार करिये और बताइये।

श्रोताओ मे से एक ने उत्तर दिया—'मनुष्य'।

आपने सत्य कहा। इस पहेली का उत्तर 'मनुष्य' ही है। इस पहेली मे मनुष्य की वय के प्रभाव का बहुत ही सुन्दर ढग से वर्णन किया

गया है। मनुष्य जब बालक होता है, तब वह मनोहर लगता है। कोई भी उसे गोदी मे उठा लेता है। बच्चा बडो के लिए एक खिलौना-सा मन बहलाने का साधन बन जाता है। बच्चा अर्थात् मनुष्य रूप कच्चा फल। अर्ध पक्व फल अर्थात् युवक मनुष्य। युवक अपने शरीर के सौन्दर्य, बल और कार्यक्षमता के कारण सबको मधुर लगता है। कोई भी उसकी ओर आकर्षित होकर, उसके यौवन की मिठास का स्वाद लेने को लालायित हो जाएगा। पक्का फल अर्थात् वृद्ध मनुष्य। वृद्ध मनुष्य घर मे या बाहर प्राय सर्वत्र कडवा लगता है। इस पहेली का अर्थ 'मनुष्य' किया जाता है, तब इसकी अर्थ-सयोजना इस प्रकार होती है।

इस पहेली का दूसरा उत्तर हो सकता है- 'मनुष्य की वय'। मनुष्य की वय जब कच्ची होती है, तब वह उपादान सग्रह का काल, झन्झटो से मुक्त होने के कारण अपने-पराये के लिए, सुन्दर प्रतीत होता है। जब-जब मनुष्य को बचपन की याद आती है तब-तब उसे वह काल चिन्ता से शून्य और मनोहर लगता है। फल की अर्धपक्व अवस्था यौवन है। यह रस जमने का काल है। इस काल मे व्यक्ति मस्ती से झूम उठता है। उसे यह काल बहुत ही मीठा लगता है और अन्य भी समयकालीन व्यक्ति भी उसके माधुर्य का आस्वादन करना चाहते हैं। पक्का फल है वृद्धावस्था। यह सौन्दर्य बल आदि के ह्रास का काल है। ह्रास किसे प्रिय लगता है। पक जाने के बाद रस की विकृति का काल आता है। वृद्धावस्था अपने आपको भी कडवी लगती है और औरो को भी कड़वी लगती है। यह वयरूपी फल ऐसा विचित्र फल है।

इस पहेली का आपके सामने वर्णन क्यो किया?—आप इस विषय मे समझ गये होगे। साधना का योग्य काल कौनसा है—इस प्रश्न का उत्तर आप इस पहेली के विश्लेषण मे से खोजिये—स्पष्ट रूप से उत्तर प्राप्त हो जाएगा। 'केशि' महाराज ने अल्पवय मे साधना क्यो प्रारम्भ की -इस बात का समाधान भी इस उत्तर से हो जाएगा।

मनुष्य ने दूसरो की उम्र ली

भावना की वय कौनसी है ?–इसका उत्तर पाने के लिए, एक अन्य कल्पित कथा आपके सामने रखता हू। वह कल्पित इसलिए है, कि–ऐसी घटना कभी घटी नही है। घटना की दृष्टि से वह कल्पित है, किन्तु तथ्य की दृष्टि से वह सत्य है।

ब्रम्हा जी ने सृष्टि रची। जगत् किसी समय रचा नही गया। किन्तु रूपक मे समझने के लिए ऐसी ही कल्पना की गई है। हां ! तो ब्रम्हाजी ने सृष्टि रच। उन्होने मनुष्य, बैल, कुत्ता और बगुला बनाया। सबको चालीस-चालीस वर्ष की वय दे दी। मनुष्य ने विचार किया–ब्रम्हाजी ने मेरे साथ अन्याय किया। मुझे सिर्फ चालीस साल की उम्र दी। मैं सृष्टि का शृंगार उत्तम प्राणि और मेरी उम्र चालीस वर्ष ? क्या होगा इन चालीस वर्षो मे।' उसने नाराज होते हुए ब्रम्हाजी का द्वार खटखटाया। वह ब्रम्हाजी से बोला–'आपने मेरे साथ अन्याय किया है। मुझे बहुत ही थोडी उम्र दी है आपने। क्या सुख अनुभव करूँगा–इतने अल्पकाल मे।' ब्रम्हाजी ने कहा–'अच्छा ! कुछ देर ठहरो ! मैं अभी तुम्हारी बात पर विचार करता हू।'

इधर तीनो प्राणी भी ब्रम्हाजी पर नाराज हो रहे थे। वे सोच रहे थे–'हमे इतनी अधिक उम्र दे दी ! क्या करेंगे–हम इतनी उम्र को ? हमारी योनियो की वृत्तियाँ तो ठीक है ही नही। बैल ब्रम्हाजी के पास आया और नाराज होकर कहने लगा–'आप कैसा कार्य करते हैं ? मुझे भार ढोने वाला जीव बनाया और उम्र दे दी चालीस वर्ष ! इतने वर्ष तक भार ढोते-ढोते तो मेरे कुच्चे निकल जाएँगे। क्या हाल होगा मेरा ? ब्रम्हाजी ने उसकी उम्र के बीस वर्ष काटकर मनुष्य की उम्र मे जोड़ दिये।

इतने मे कुत्ता आ धमका। वह शिकायत भरे स्वर मे ब्रम्हाजी से बोला–'आपने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है। मुझे आपने पराश्रित प्राणि

बनाया—टुकडो के लिये दर-दर घूमने वाला और डंडे खाने वाला जीव बनाया और आयुष्य दे दिया चालीस वर्षों का। इतने वर्षों तक यह पीडा कैसे सहन कर सकूँगा?' ब्रम्हाजी ने उसके आयु के भी बीस वर्ष काटकर मनुष्य की आयु मे जोड दिये।

अब बगुले ने भी ब्रम्हाजी से शिकायत की—'कवि-लोग आपकी त्रुटियाँ बतलाते हैं सो ठीक ही करते है। अब देखिये मेरे साथ भी कैसी गलती की है। मुझे आपने शरीर से श्वेत बनाया और मन से काला! फिर वय दे दी चालीस वर्ष! मायावृत्ति से—भजन-ध्यान का ढोंग करते हुए इतने वर्षो तक कितने पापो का सन्चय करूंगा मैं?—यह सोचकर मेरी आत्मा काँप जाती है। मुझे इतनी उम्र नही चाहिए।' ब्रम्हाजी ने उसकी उम्र के भी बीस वर्ष काटकर, मनुष्य की उम्र मे जोड दिये। मनुष्य की वय तीन बीसी अधिक हो गई। इस प्रकार सौ वर्ष की आयुष्य पाकर मनुष्य प्रसन्न हो गया।

जिसकी उम्र, उसी की वृत्तियाँ

यह कथा कल्पित है, किन्तु इसके तथ्य सत्य हैं। विचार करिये—मनुष्य की असली उम्र कितनी है?—चालीस वर्ष ही मनुष्य के अपने हैं। जो भी कुछ विकास होता है या वृत्तियो का-स्वभाव का निर्माण होता है-वह चालीस वर्ष की उम्र तक हो जाता है। जो अपनी वय है—वही सीढी है उसी मे अपना निर्माण होता है, व्यक्तित्व बनता है और उसी मे बल-शक्ति की वृद्धि होती है। चालीस वर्ष के बाद की तीन बीसियाँ अन्य योनि के प्राणियो की है। जिस योनि के प्राणियो की वह वय है, उसी प्राणि की वृत्तियाँ प्रायः उस वय मे बनती हैं।

चालीस वर्ष के बाद की पहली बीसी बैल की है। चालीस वर्ष की वय तक बच्चे-बच्चियाँ बड़ी हो जाती हैं। घर का उत्तरदायित्व अपने

ऊपर आ जाता है। व्यय के लिए आय के साधनो को जुडाने की चिन्ता छा जाती है। गृह का भार-वहन दूभर हो जाता है। कन्या के लिए वर की खोज करना है। योग्य वर के बाजार-भाव ऊचे है । मनुष्य है तो बीमारी भी आती है। डाक्टर, वैद्य, ओषधियो का खर्च भी बढ जाता है। सम्बन्धो मे—आपसी व्यवहार मे लेन-देन का खर्च अलग। बेटे-बेटियो की विचित्र फरमाइशो का रग कुछ और ही होता है। इस प्रकार इस उम्र मे गृह-कुटुम्ब का भार ढोता रहता है।

साठ वर्ष तक पहुचने-पहुंचते प्राय. शरीर कमजोर हो जाता है। अब पुत्रो की शादियाँ हो चुकी है। पुत्रों ने भी अपना व्यापार-धधा सम्हाल लिया है। नोकरी वाले पुत्र हैं तो घोसला छोड के उड चुके हैं। अब वय साठ के ऊपर चल रही है। सब बातों के लिए पिता पुत्र की ओर ताकता है । घर पर रहता है तो बहुएं नाराज होती हैं— स्वसुर सारे दिन यही बैठे रहते हैं। खाँसते-छीकते रहते हैं। आँगन बिगाडते हैं। अपन कुछ देर के लिए हँसने-बोलने की भी नही। जारे ! मुन्नू बासाब से कह, कि—दुकान पर जाएँ। यो बैठे रहने से तो गोड़े गल जाते हैं। थोडा फिरना-हिरना होगा तो अन्न भी पचेगा।' वृद्ध बेचारा दुकान पर जाता है। लडके नाराज होते हैं—'काम नही होता है तो यहाँ क्या करने आये हैं? घर पर ही बैठे रहते हैं। यहाँ बैठे-बैठे फालतू के अडगे लगाते रहेगे।' इस प्रकार दुकान से घर और घर मे दुकान पर वह दुर-दुर होता रहता है। उसे बहुओ से शिकायत रहती है, कि—वे खाने आदि सब मे उसकी अपेक्षा करती है। उसे पुत्रो मे असन्तोष रहता है, कि—वे उसकी कुछ भी कद्र नही करते हैं। यदि बेटे नौकरी वाले है तो वह वृद्ध उनके पास रहना चाहता है। बेटो को यह सुहाता नही है। वे कहते हैं—'गांव में ही रहो।' वे वृद्ध गाँव मे रहते हैं तो भी बुरी हालत होती है। व्यय के लिए पुत्रो की ओर ताकते हैं। पुत्रो से उपेक्षित होते हैं तो पुत्रियो से सहायता चाहते हैं। इस प्रकार शरीर-निर्वाह

के लिये अन्य की ओर ताकते रहते हैं। ताकना ही पडेगा। क्योंकि कुत्ते की उम्र जो है। सदा-सदा के लिए जैसे आत्माभिमान सो जाता है।

यह कुत्ते की वीसी कोई-कोई ही पार कर पाते हैं। इसके बाद वगुले की वीसी प्रारम्भ हो जाती है। शरीर दुर्बल और जर्जर हो जाता है। उठने-बैंटने मे भी कष्ट होने लगेता है। व्याधियाँ हमला कर देती हैं। फिर भी गृहकार्य से जी नही उचटता है। जवर्दस्ती से घर-धधो मे टाँग अडाते हैं। स्वजन परिजन कहते हैं, कि—अब तो भगवान् का भजन करो। जबरन माला हाथ मे दे देते है। हाथ मे माला फिरती है और हृदय मे शाप की ज्वाला जलती रहती है। 'मैंने इनके लिए कितना-कितना सहा है और कितना-कितना किया है। किन्तु ये मेरे लिए कुछ नही करते हैं। मेरी उपेक्षा करते हैं। मेरा तिरस्कार करते हैं। आप तो गुलछर्रे उडाते हैं, और मेरी दवा के लिए इन्हे कुछ पैसे भी नही मिलते हैं।' बाहर से शिथिल शरीर शान्त दिखाई देता हैं, किन्तु भीतर अशान्ति का ववण्डर उठता रहता है। ऐसी है, यह वगुले की वीसी ! बाहर शान्ति और मन मे जहर—यह है, इस वीसी की विशेषता।

यह सामान्य जन की वय का लेख है।

साधना की वय कौन-सी

अब इन उदाहरणो के मर्म को पहचानते हुए, यह निर्णय करना है, कि—साधना के योग्य वय कौन-सी है ?

सामान्य जन की समझ है, कि—बचपन खेलने का काल है। जवानी सुख भोगने का काल है और बुढापा भगवान् के भजन करने का कल है। परन्तु विचार करो, कि—निर्बल व्यक्ति से आत्म-साधना हो सकेगी क्या ?

जब काल की मार से शरीर जर्जर हो जाएगा, तब उस जर्जर ढोल से साधना के सुन्दर बोल कैसे निकल सकेंगे ? बलहीन व्यक्ति का स्थिर आसन से बैठना ही कठिन हो जाता है तो वह क्या स्वाध्याय कर सकेगा ? क्या ध्यान कर सकेगा ?

मनुष्य की वास्तविक उन्नति की वय चालीस वर्ष तक की ही है। इस वय में जिसने साधना करली, वह आगे की बीसियो को भी स्वाधीन कर लेता है। भगवान् महावीर देव ने तीस वर्ष की वय मे साधना प्रारम्भ की और बयालीस वर्ष की वय मे साधना पूर्ण हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ ने भी तीस वर्ष की वय मे साधना प्रारम्भ की और कुछ ही दिनो मे उनकी साधना पूर्ण हो गई। गजसुकुमाल अनगार ने युवावस्था मे कदम रखते ही साधना प्रारम्भ की और एक ही दिन मे साधना पूर्ण कर ली। इससे भी विशेष बात दिखाई देती है—अतिमुक्त कुमार के जीवन मे। उन्होने शैशव मे—छह वर्ष की वय मे ही साधना प्रारम्भ कर दी थी। यो तो जैन इतिहास मे ऐसे जाग्रत जीव की जीवनकथा अंकित है, जिनने पालने मे ही ज्ञान प्राप्त कर लिया। किन्तु साधना प्रारम्भ करने की दृष्टि से शास्त्रो मे-ग्रन्थो मे वय निर्धारित कर दी गई है। गर्भ के नव मास सहित आठ वर्ष की वय साधना के प्रारम्भ करने का निर्धारित काल है। इससे अल्प उम्र वाले को साधना के लिए योग्य नही माना है।

आजकल कई व्यक्तियो की ऐसी विचारणा है, कि—जिसे ससार का अनुभव नही है, वह व्यक्ति उत्तम साधक नही हो सकता है। मुझे यह विचार भ्रामक लगता है। साधना के लिए ससार के अनुभव की नही, साधना के अनुभव की आवश्यकता रहती है और साधना की अनुकूलता के लिए द्रव्य, क्षेत्रादि की जानकारी चाहिए, वह तो तत्कालीन परिस्थितियो से सम्बन्ध रखती है, जिसकी उपलब्धि उन द्रव्यादि के उपभोग के बिना—ससार मे लीनता के बिना भी अन्य माध्यमो से हो सकती हैं। कीचड़ से

बचने के लिए, कीचड मे फँसने का अनुभव होना ही चाहिए—जैसे यह कथन हास्यास्पद है वैसे ही पाप का-भोगो का त्याग करने के लिए पाप का-भोगो का अनुभव होना चाहिए—यह कथन भी हास्यास्पद है। दूसरी बात, अनादि-काल के सस्कारो के कारण और अन्य की भोग-स्थिति देखकर, उन पापो की-भोगो की अवस्थाओ का बोध होता रहता है। इसलिए ज्ञानियो ने अल्प वय वालो को भी साधना के योग्य माना है। यह कहना भी ठीक नही है, कि—भोग के अनुभवी को पतन के कारण मे सजगता रह सकती है। क्योंकि भोगानुभवी को भी वैराग्य पुष्ट न हो तो पतन के गर्त मे गिरते देर नहीं लगती। इसलिए पतन से बचने का हेतु भोगानुभव नही, किन्तु वैराग्य की पुष्टि है, जो शास्त्रानुमोदित किसी भी वय वाले योग्य साधक मे हो सकती है। हाँ, एक बात जरूर है, कि—साधना की अपेक्षा संघ की व्यवस्था मे ससार का अनुभव यत्किञ्चित् लाभकारी हो सकता है—ऐसा सम्भव है।

इस विचारणा से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं, कि-वैराग्य युक्त भावना वाला व्यक्ति-आठ वर्ष की वय से लगाकर, किसी भी वय वाला हो—साधना के योग्य है। किन्तु इस निर्णय मे शास्त्रीय वय मर्यादा का ही लक्ष्य है, आजकल जो वैरागियो की धूम-धाम चलती है उसका इस के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु सच्ची साधना दृष्टिवाले को ही सोचना चाहिए, कि—सबल अवस्था मे ही साधना का चरम और परम उत्कर्ष साधा जा सकता है। जब तक इन्द्रियो की शक्ति रहती है तभी तक धर्म की आराधना हो सकती है।

जब जागे तभी सवेरा

जिसकी युवावय बीत गई है, उसे इस वर्णन से निराश नही होना चाहिए। जिसकी जितनी शक्ति है, उसके अनुसार साधना करते रहने मे

ही कल्याण है। यदि पिछली वय में भी कोई जाग्रत होता है तो उसके लिए भी साधना करने का निषेध नही है। महर्षियो ने भगवान् के आशय के अनुसार यह प्रतिपादन किया है, कि—

पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमर भवणाइं।
जेसिं पिओ तवो सजमो अ खंति अ बंभचेर च ॥

पिछली वय मे भी यदि कोई प्रव्रजित होते हैं और जिन्हें तप, सयम, क्षान्ति ब्रम्हचर्य आदि प्रिय हैं, तो वे शीघ्र ही अमर-भवनों को प्राप्त कर लेते हैं। शर्त यही है, कि--उन्हे तप-सयम मे रुचि होनी चाहिए। यदि उस भव मे साधना की पूर्णता की योग्यता न होगी तो इम भव की यत्किञ्चित् योग्यता के बल से स्वर्गलोक को प्राप्त कर के, अगले भव या भवो मे साधना की पूर्णता के योग्य साधनो को जुटा सकेंगे।

साधना प्रारम्भ करने के लिए—जब जागे तभी सवेरा-यह उक्ति बिल्कुल ठीक है। जब साधना का उत्साह हो, उमग हो, जब भी साधना की दृष्टि प्राप्त हो गई हो, तभी साधना का योग्य काल है-तभी साधना प्रारम्भ कर देना चाहिए। जितनी भी अपनी शक्ति हो, उसका निश्छल भाव से निर्णय करके, तुरन्त ही यथायोग्य साधना मे जुट जाना चाहिए।

बहाने मत बनाओ

कई व्यक्ति कहते हैं, कि—'क्या करें? धर्म-साधना करने की इच्छा तो बहुत रहती है, पर समय नहीं मिलता।' क्या उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है? यदि वे हिसाब लगाकर देखेंगे तो उन्हे लगेगा, कि—उनका बहुत-सा समय वृथा बातो मे बीत जाता है। आपकी रुचि के कार्यों मे आप समय देते हैं या नही? ताश-पत्ती के लिए, सिनेमा के लिए, गपशप के लिए, दाढी घिसने के लिए-और क्या-क्या बातें गिनाऊँ-शादी-ब्याह सबके लिए आपको समय मिल जाता है। आप कदाचित् यह कहेगे, कि—'ये कार्य तो

आवश्यक है।' अच्छा, तो आपको धर्म-साधना आवश्यक लगती है? इसी-लिए समय नही मिलता है। जितना खान-पान आवश्यक है, उससे भी अधिक धर्म-साधना आवश्यक है—यह जब हृदय मे जँच जाएगा तब समय आवश्यक ललेगा।

आप हाथ मे घडिया बाँधते हैं किस लिए? समय का सदुपयोग करने के लिए? आप इन घडियो के अनुसार कितने चलते हैं? प्रात' नीन्द खुली। अन्धेरा है। घडी देखी—'पाँच बजी है। अभी थोडा और सोलें।'—और फिर ऐसे सोये, कि—आठ बजे तक उठने का नाम नही। कैसा सदुपयोग करते हैं—घडी का!

जिसे धर्म-साधना नहीं करना है, उसके पास ढेरसारे बहाने हैं। एक गाँव मे किसी बच्चे से मैंने पूछ लिया—'भाई! तुम धर्मस्थान मे बहुत कम दिखाई देते हो!' उस बच्चे ने उत्तर में प्रात उठने के समय से लगाकर सोने के समय तक की कार्य-सूचि गिना दी और बोला—'अब देखिये महाराज! समय कहाँ मिलता है जो मैं यहाँ आऊँ।' बताइये, अब मैं उस बच्चे से क्या कहता? चुप रहा! मन चुप नही रहा। मैं मन ही मन बोल उठा—'बच्चा! अपने-आपको कितना कार्य-व्यस्त बतलाता है। इसने मित्रो के साथ गपशप को खेल को आवश्यक समझकर, अपनी कार्य-सूचि मे उन्हे स्थान दे दिया। किन्तु इसे धर्म-साधना आवश्यक नही लगी। कहाँ से पाई होगी इसने यह दृष्टि? अपने बडो से ही तो!' तात्पर्य यही है, कि—धर्म-साधना को टालने के लिए बहाने मत बनाओ।

कार्य-व्यस्तता का अभिनय

आजकल एक व्यापक रोग-सा फैल रहा है—अपने को कार्य-व्यस्त दिखलाने का। काम कुछ भी नही होगा, दोपहर नीद मे जाती होगी, रात्रि के कई घण्टे वृथा तिकडम मे जाते होगे तो भी हमसे कह देंगे, कि—'क्या

करे ? समय नही मिलता है।' तुम धर्म-साधना करगे तो उसका फल किसी को दे दोगे क्या ? कैसी विडम्बना है ? कैसा अज्ञान है ? आप समझ रहे हैं, मानो धर्म-साधना किसी और का कार्य है या महाराज हमे वेगार में पकड रहे हैं ? यह अच्छी तरह से समझ लो, कि–धर्म करोगे तो अपने लिए करोगे, हमारे लिए नही।

मैं कह रहा था, कि–अपने आपको कार्य-व्यस्त दिखलाना भी आज का एक फेशन है। एक व्यापारी दूकान पर बहुत कार्य-व्यस्त रहते थे। टेलिफोन उनके हाथ में रहता था। कोई भाई उनसे मिलने के लिये आया। उन्होने कहा–'अभी तो मुझे समय नही है। अमुक समय घर पर मिलना।' वे भाई व्यापारी के घर पर मिलने के लिए उनके बताये हुए समय से पूर्व ही पहुच गये। व्यापारी की पत्नी ने उन्हे बैठक मे विठा दिया और वह काम मे लग गई। टेलिफोन की घण्टी बज उठी। व्यापारी की पत्नी ने कुछ भी ध्यान नही दिया। थोड़ी देर मे पुनः घण्टी बजी। आगन्तुक ने व्यापारी की पत्नी को पुकारा, फिर भी उसने कुछ ध्यान नही दिया। आगन्तुक ने फोन उठा लिया। उधर से आवाज आरही थी। वह आवाज सुनकर चौंक गया–यह तो उन व्यापारी की ही आवाज थी। व्यापारी कह रहा था–'अमुक माल बेंच देना।' आगन्तुक कुछ समझ नही पाया। उसने फोन रख दिया। कुछ देर बाद पुन. फोन की घण्टी टनटना उठी। आगन्तुक ने पुन. फोन उठाया। उन व्यापारी की ही आवाज थी–'सौ गाँठ खरीद लेना।' वह आगन्तुक जितनी देर बैठा उतनी देर में कई बार फोन की घण्टी बजी और हर बार आगन्तुक ने व्यापारी की आवाज सुनी। उसने सेठजी की व्यस्तता का रहस्य जान लिया। उसने विचार किया–'लगता है, कि–सेठजी के फोन अधिकतर घर पर ही होते होगे। पत्नी भी इस बात की अभ्यस्त लगती है। इसीलिए वह फोन नही उठाती है और व्यापारीजी को भी किसी के फोन उठाकर, सुनने की अपेक्षा है नही। उन्हे तो वहाँ उपस्थित लोगो को अपनी कार्य-व्यस्तता और कार्य-विस्तार को सिर्फ दिखाना है।' कुछ देर

बाद व्यापारी घर पर आया। वहाँ उन आगन्तुक सज्जन को देखकर बोला—'आप पधार गये। मुझे दुकान पर कार्य निपटाने मे जरा देर लग गई।' आगन्तुक हँसकर बोला—'कोई बात नही। कार्य की अधिकता मे ऐसा हो ही जाता है। मुझे आये कुछ देर हुई है। मेरे आने बाद यहाँ भी कई बार फोन की घण्टी बज चुकी है।' व्यापारी बोला—'अच्छा, तो आपने फोन उठाया था क्या ?' आगन्तुक बोला—'हाँ ! फोन सुना भी था ! यह सुनकर व्यापारी एक दम झेंप गया। इस दृष्टात का आशय यह है, कि— आज व्यक्ति अपने को झूठमूठ कार्य मे व्यस्त दिखाने में गौरव का अनुभव करता है। कई बार ऐसे तमाशे देखने की चेष्टा नही करने पर हमारी दृष्टि मे पड जाते हैं। देखा, कि—कोई व्यक्ति का फालतू बैठा है, किन्तु हमे देखते ही अखबार मे दृष्टि गडा देता है या कोई चीज इधर-उधर करने लग जाता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि—कार्यव्यस्तता का अभिनय छोडकर, धर्म-साधना के सन्मुख बनिये। यह वय बीत रही है और नही चैतेंगे तो समय तो चला जाएगा।

समय दोगे तो ज्योति जगेगी

आर्य केशिकुमार श्रमण वय मे ही साधना के पथ पर गृह त्याग कर चल पडे। न उन्हे यौवन रोक सका, न सौंदर्य रोक सका और न भौतिक चमक-दमक ही रोक सकी। गृह-त्याग करके, साधना करने की सामर्थ्य सबकी नही होती है। किन्तु गृही होते हुए भी संयम-नियम से रहकर, जो भी व्यक्ति साधना के लिए यत्किन्चित् समय देता है उसके जीवन मे परमात्मा से अवश्य लौ लग जाती है और एक न एक दिन आत्म-ज्योति अवश्य जग जाती है।

विषय का अनुसन्धान

गत दिन 'केसी कुमारसमणे' पद पर विवेचन किया गया था। इस पद मे सूत्रकार महर्षि ने अत्यल्प शब्दो मे 'केशि' महाराज का बहुत कुछ

परिचय दे दिया है। इस पद मे 'केशि' महाराज के शरीर-बल और साधना के लिए उनके द्वारा किए गये उत्कट साहस का वर्णन हैं। अब चौथा पद है—विज्जा—चरण—पारगे । इस पद में केशि महाराज के आत्म-वैभव के उपादानो का वर्णन है। वे विद्या और चरण के पारगामी थे। विद्या और चरण आत्मा वैभव के उत्पादान हैं।

'विद्या' का अर्थ

विद्या किसे कहते हैं? विद्या का शब्द का सामान्य अर्थ होता है—जानकारी। विद्या शब्द विशेष अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है, जैसे, कि—विशिष्ट मन्त्रा के द्वारा विशिष्ट चमत्कारिक शक्तियो की आराधना और उन शक्ति की सिद्धियो को भी विद्या कहा गया है। छात्रो के अध्यापको के माध्यम से किसी विषय की सागोपाग ज्ञान-प्राप्ति को भी विद्या कहा गया है। इस प्रकार ससार मे विद्या के अनेक रूप हैं। किन्तु ज्ञानियो की दृष्टि में ये विद्याएँ वस्तुतः विद्या नही हैं। उनका उद्घोष है—

सा विद्या या विमुक्तये

—वह जानकारी ही सच्ची विद्या है, कि—जिससे जीव बन्धनो से मुक्त होता है स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है अर्थात् मानसिक और आत्मिक पाश जिससे कट जाते हैं।

विद्या स्वावलम्बी बनाती है—परावलम्बी नही। आत्म-नियन्त्रण की कला सिखाती है— आवेगो मे बहने की नही। विषयो से छूटने की युक्ति बताती है—विषयो से आबद्ध होने की नही। और आगे बढ़कर कहूँ तो विद्या देह-धर्म से ऊपर उठकर आत्म-धर्म मे प्रवेश करने की विधि बतलाती है—देह-धर्म मे शयन करने की नहीं।

जो विद्या इससे विपरीत परतन्त्रता से मुक्ति के लिए नही होती, स्वावलम्बी नही बनाती, आत्म-दीनता से पिण्ड नही छुड़ाती, वह विद्या—

भले ही जिसके लिए बडे-बड़े विद्यालय या महाविद्यालय खुले हो और जिसमे पारगत होने के बडे-बडे विश्वविद्यालयो से प्रमाण-पत्र प्राप्त हुए हो—अज्ञान रूप अविद्या ही है। यह मैं अपनी ओर से नही कह रहा हू, किन्तु मनीषियो का निर्णय आपको सुना रहा हू!

अज्ञान परम शत्रु है

अज्ञान समस्त दु खो का मूल है। कहा है—

अज्ञान नरको घोर तमोरूपतया मतम् ।
अज्ञानमेव दारिद्रय—मज्ञान परमो रिपु ॥ १ ॥
अज्ञानं रोग-सघातो जरा ह्यज्ञानमुच्यते
अज्ञान विपद. सर्वा अज्ञान मरण मतम् ॥ २ ॥

—अज्ञान को सुज्ञजनो के द्वारा घोर नरक, अन्धकार माना गया है। वस्तुत अज्ञान ही दारिद्रय है और अज्ञान ही जीवका परम शत्रु है।

—अज्ञान रोगो का समूह है और बुढापा है। जगत् की समस्त विपत्तियो का मूल अज्ञान है और अज्ञान ही मरण है।

यदि हम विचारपूर्वक देखें तो ससार के समस्त दु खो का कारण अज्ञान ही दिखाई देगा। वस्तुतः अज्ञान ही महान् दु ख है। जैसे नरक मे जीव दुःख ही दुःख पाता है, सुख की आशा से इतस्तत' भटकते हुए दु.ख के दावानल मे ही गिर पडता है और मरण मे भी स्वाधीन न होने के कारण आयु पर्यन्त दु'ख मे ही पचता रहता है, वैसी स्थिति अज्ञानी जीवो की होती है। नरक मे जाता है तो अज्ञान से ही जाता है। अन्धकार के आवरण मे कोई भी वस्तु नही सूझती। इसी प्रकार अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का बोध नही हो पाता है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति कार्य-अकार्य का भेद नही कर पाता है, क्या गम्य है और क्या अगम्य है—यह सोच नही सकता है और भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय तथा हेय-उपादय का विवेक नही कर पाता है।

यदि व्यक्ति बहुत पढा-लिखा भी है, किन्तु हेय-उपादेय मे, भक्ष्या-भक्ष्य मे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य मे या धर्म-अधर्म मे विवेक नही कर सकता है तो उसे विद्यावान् कैसे माने ? पुत्रवती स्त्री बाँझ हो यह हो नही सकता। इसी प्रकार ज्ञानी विवेक-शून्य हो यह भी हो नही सकता। जब अज्ञान के फल रूप कार्य दिखलाई पडते है तो चाहे भले ही चोटी के वैज्ञानिक ही क्यो न हो—उनमें उन कार्यो के कारण रूप अज्ञान का अस्तित्व माना ही होगा।

जिसमे अज्ञान है, उसकी चतुराई है, धर्म-क्रिया या कार्य-तत्परता तीव्र दुःख में फँसने के कारण रूप ही बनती हैं। उन-उन सद्हेतुओ से भी आत्म-दरिद्रता बढती ही है। जैसे कि रोगी के लिए पौष्टिक भोजन उसकी रुग्णता को बढाने मे ही कारण बनता है, वसे ही अज्ञानी के द्वारा किये जाने वाले चतुरता से युक्त कार्य भी उसके दुःख के हेतु ही बनते हैं। इस लिए जीव के लिए अज्ञान परम शत्रु है। यह अज्ञान की ही तो महिमा है, कि—व्यक्ति इस परम शत्रु को अपना मित्र मान लेता है।

ज्ञानी को ज्यादा पाप लगता है ?

कई व्यक्ति कहते हैं, कि—'अन्जान को पाप नही लगता है, जानकार को ज्यादा पाप लगता है।' क्या यह बात मानने योग्य है ? हमे इसकी परीक्षा करना चाहिए। यदि इस कथन का यह अर्थ हो, कि—जो जान-बूझ-कर और सकल्प करके पाप कर्म करते हैं, उसे अनजान अवस्था में अकस्मात् पाप करने वाले की अपेक्षा अधिक पाप लगता है, तो यह बात सत्य है। किन्तु इस बात का यह अर्थ हो, प्राय इसी अर्थ में लोग इस वाक्य का प्रयोग करते है, कि—जो जीव, अजीव, पाप आदि तत्वो को तत्व रूप मे जानता है, उसके द्वारा पाप कर्म होता है या वह पापकर्म करता है तो उसे, जो तत्व को तत्व रूप नही जानता-मानता है उसकी अपेक्षा अधिक पाप लगता है, तो यह बात सत्य नही है। जहर को जहर

रूप में और उसके गुण-दोष को जाननेवाले और नहीं जाननेवाले के जहर खा लेने पर, क्या उन दोनो पर समान असर नहीं होता है ? अतः अज्ञानी को पाप कम लगता है या नही लगता है—यह कहना युक्ति सगत नही है।

अज्ञानी को ज्यादा पाप लगता है

'ज्ञानी को अधिक पाप लगता है'—वस्तुस्थिति इस आशय से विपरीत है। ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को ही पाप अधिक लगता है। प्रथम तो अज्ञानी का अज्ञान ही पाप रूप है और द्वितीय, वह पाप करता है, उस क्रिया का भी पाप लगता है। जैसे ठगाई के स्थान पर, कोई उस ठगाई का जानकार व्यक्ति ठगाता है तो कारणवशात् ही ठगाता है और वह भी कभी ही ठगाता है, किन्तु उस ठगाई को नही जाननेवाला व्यक्ति अकारण ही वार-वार ठगा जाता है या लाभ के स्थान पर, लाभ का ज्ञाता कारणवशात् कभी लाभ प्राप्त नही कर सकता है किन्तु लाभ से अज्ञान व्यक्ति उस लाभ मे वार-वार वञ्चित होता है। वैसे ही अज्ञानी जीव भी अज्ञान जनित भावो के कारण पाप नही करते हुए भी पाप-त्याग के फल से वञ्चित रहता है।

ज्ञानी पाप से बच सकता है

अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण पापकर्म को रस-पूर्वक करता है, इससे विपरीत ज्ञानी-सच्चा ज्ञानी पापकर्म करना ही नही चाहता है। कर्मोदय के जोर से वह पापकर्म मे प्रवृत्त भी होता है तो उस पापक्रिया मे उसकी उत्कट रुचि नही होती है। तीव्र रुचि के अभाव मे वह उस पापकर्म को रस-पूर्वक नहीं कर पाता है। अत नीरस भाव से होनेवाले पाप से कर्मबंध भी अल्प ही होता है। वह उस कर्मबन्ध को भी क्षय करने का प्रयत्न करता है और उसका प्रयत्न भी निष्फल नही जाता है।

वैद्यजी के घर मे कहा-सुनी हो गई। वैद्यजी को बडा क्रोध आया। वे आगबबूला हो गये। वे बाहर, औषधालय मे आ गये। रोष तीव्र था। औषध के लिए सञ्चित विष की शीशी हाथ मे आ गई। वैद्यजी ने विष खा लिया। विष खाते ही उनका गुस्सा उतर गया। उन्हे भान हुआ—'मैंने यह क्या महान् पातक कर डाला।' किन्तु उसी क्षण कुछ विचार करके, उस विष की मारक औषधि को ढूँढकर सेवन कर ली। कुछ कष्ट हुआ। वमन और विरेचन होने लगा। उदर से विष निकल गया और वैद्यजी बच गये। एक अन्य व्यक्ति क्रोध मे विष-पान कर जाता है। किन्तु उसके विष-पान की बात अन्य को जताने पर, विषोपचार के लिए औषधालय तक ले जाने में ही उसके शरीर मे विष परिणत हो गया या विषोपचार के जानकार के नही मिलने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

वैद्य के समान तो ज्ञानी है, जो प्रमादवश पाप कर करके भी कुछ कष्ट पाकर, पापो से छुटकारा पा लेता है। किन्तु अन्य व्यक्ति के समान अज्ञानी जीव हैं। यदि उसे अपने पापो को क्षय करना हो तो ज्ञानी की ही शरण स्वीकार करना होगा। अन्यथा उसे पाप का तीव्र फल भोगना ही होगा। इसलिए हमे यह समझना चाहिए, कि—ज्ञानी पाप करके भी उससे छुटकारा पा सकता है। यह ज्ञानी के लिए, पाप करने का प्रमाण-पत्र नही दिया जा रहा है। किन्तु वस्तुस्थिति का वर्णन है। वस्तुतः 'मैं ज्ञानी हू अतः मैं पाप कर सकता हूँ।'—ऐसा जिसके दिल मे भाव है—वह ज्ञानी ही नही है।

ज्ञान को आग नहीं माने तो

'पाप करना पडता है' और 'पाप जीवन मे है, इसलिए पाप करने योग्य हैं—ये दोनो ही भावनाएँ भिन्न हैं। पहली भावना परिस्थितिवश पाप मे फँसे हुए ज्ञानी की है, जब कि—दूसरी भावना अज्ञानी की है। कोई यह कहे, कि—'पाप को पाप मानकर भी पाप करता है, वह काहे का ज्ञानी है'—यह

कथन भ्रमपूर्ण है। यह कह चुके हैं, कि–सच्चा ज्ञानी पाप को पाप मानते हुए भी पाप करता है तो वह विवशता या परवशता से पाप करता है। व्यक्ति जानता है, कि–आग जलाती है, किन्तु उसे उस दग्ध करनेवाली वस्तु का प्रयोग जीवन के लिए अवश्य करना पड़ता है। यदि वह इस प्रयोग के कारण आग को आग न माने तो उसकी क्या हालत होगी? कोई आग को पीली-पीली देखकर, यह विचार करे, कि–यह उच्च कोटि का स्वर्ण है और वह उसे उठाकर अपनी जेब मे रखने लगे तो उसकी जो भयंकर स्थिति होगी उसकी आप कल्पना कर सकते हैं। दूसरा व्यक्ति आग को आग रूप मे जानता है, उसकी दग्ध करने की शक्ति से भलि भाँति परिचित है, किन्तु उसके पास आग पकड़ने का साधन-चिमटा आदि न होने के कारण खुले हाथो से ही आग उठाकर, इधर से उधर करता है तो वह क्या जलेगा नहीं? जलेगा अवश्य, किन्तु पहले व्यक्ति के समान भयकर रूप से नही। क्यो कि उसकी जानकारी उसे सावधान बनाती रहती है। तीसरा व्यक्ति आग को आग रूप मे जानता भी है और आग को पकड़ने के उसके पास साधन भी हैं। किन्तु आग पकडते समय उससे भूल हो जाती है या काया चन्चल हो जाती है और आग पर हाथ पड जाता है तो दग्ध तो वह भी होता है, पर वह कभी-कभी भूल से ही दग्ध होता है–या योग की चपलता से। इन तीनो व्यक्तियो के दु.ख मे तारतम्य है और दु:ख के अवसरो मे तारतम्य है। चौथा व्यक्ति अग्नि मे कार्य तो लेता है, परन्तु भूल नही होने देता है। अत. अग्नि से साक्षात् दग्ध नही होता है, किन्तु अग्नि के समीप्य ताप आदि से यत्किञ्चित् दुःख होता है और पाँचवाँ व्यक्ति आग के स्वरूप को जानकर, उसके आरम्भ से दूर ही रहता है तो उससे होने वाले दु:ख से भी वह दूर ही रहता है। अब यह स्पष्ट हो जाता है, कि–आग को आग नही माननेवाला-आग के स्वरूप से अज्ञात व्यक्ति आग के द्वारा अधिक दु.ख उठाता है। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति के विषय मे भी समझिये।

पापक्रिया से सम्बन्धित पाँच व्यक्ति

अग्नि के उपयोग से सम्बन्धित पाँचो व्यक्तियो का उदाहरण पापादि के सम्बन्ध मे इस प्रकार घटित होता है—

(१) अग्नि के स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति के समान अज्ञानी व्यक्ति हैं-मिथ्यात्वी हैं।

(२) अग्नि को जानकर भी हाथो से उसे पकड़ने वाले व्यक्ति के समान अव्रती समदृष्टि जीव हैं।

(३) अग्नि को चिमटे से पकड़ते हुए भूल करनेवाले के समान देश-विरत-अणुव्रती हैं। ऐसे अणुव्रती जो अनर्थ दण्ड से पूर्णत. विरत हैं, किन्तु कभी-कभी प्रमाद कर बैठते हैं और अर्थदण्ड के बहाने भ्रम से अनर्थ-दण्ड कर बैठते हैं।

(४) अग्नि को सावधानी से पकड़ने वाले के समान अर्थदण्ड के सेवन मे भी यत्ना करने वाले गृहस्थ उपासक है

और (५) अग्निका को काम मे नही लेने वाले के समान सर्वतः पाप के त्यागी साधु हैं।

अग्नि का उपयोग करने वाले अन्य रीति से पाँच प्रकार के व्यक्ति इस प्रकार हो सकते है—

(१) अग्नि के स्वरूप से अनभिज्ञ अग्निग्राहक के समान मिथ्यात्वी व्यक्ति है।

(२) अग्नि-स्वरूप के ज्ञाता हाथ से अग्नि-ग्राहक के समान अव्रती सम्यग दृष्टि,

(३) अग्नि-स्वरूप के ज्ञाता हाथ और चिमटे दोनों से अग्नि-ग्राहक के समान अशरून से पाप के त्यागी और अग रूप से पाप के सेवन करने वाले गृहस्थ उपासक,

(४) अग्नि स्वरूप के ज्ञाता प्रमाद से युक्त चिमटे से अग्नि-ग्राहक के समान सर्वतः पाप के त्यागी किन्तु प्रमाद से युक्त साधु

और (५) अग्नि स्वरूप के ज्ञाता भूल से रहित चिमटे के द्वारा अग्नि के ग्राहक के समान अप्रमत्त रहते हुए भी कारणवशात् विधियुक्त अपवाद मार्ग का सेवन करने वाले सर्वत. पाप के त्यागी साधु हैं।

इसमे अग्नि-सेवन नही करने वाले छट्ठे पुरुष के समान अप्रमत्त और उत्सर्ग मार्ग पर चलने वाले निरवद्य-योगी साधु को समझना चाहिए।

सबसे बडा पाप

इन पाँच पुरुषो मे पहला पुरुष अज्ञानी है और बाद के तीन या चार पुरुष ज्ञानी हैं। उनमे चरित्र का तारतम्य है, किन्तु दृष्टि मे साम्य है। अत ज्ञानी द्वारा होने वाले पाप कर्मों के फल मे तारतम्य अवश्य है। किन्तु ज्ञान का फल विषयो की अरुचि—सबको समान रूप मे प्राप्त होता है। जैसे आग के स्वरूप का ज्ञाता आग के प्रति आग को हाथ मे पकडते हुए भी असावधान नही रहता है, आग को मुग्ध होकर हाथ मे नही पकडता है और न आग से खेलना ही चाहता है, इसी प्रकार ज्ञानी पाप करते हुए भी पापो के आचरण से अमर्यादित नही बनता है, पापो मे मुग्ध नहीं बनता है और न पापो से खेलना ही चाहता है। इसलिए अज्ञानियो की अज्ञान रूप अवस्था ही भयंकर पाप रूप स्थिति है। अज्ञान मिथ्यात्व का सहचारी है। मिथ्यात्व का अठारह पाप स्थान मे अन्तिम स्थान है। सब पापो मे बडा मिथ्यात्व है। अठारह पाप मे से सतरह पाप को एक पलड़े मे और उसके सामने दूसरे पलड़े मे मिथ्यात्व को रखे तो मिथ्यात्व का पलडा नीचे झुक जाएगा। मिथ्यात्व के अस्तित्व मे सतरह पापो का जोर बढ जाता है। इससे विपरीत मिथ्यात्व के अभाव मे सतरहो पाप बहुत दुर्बल

हो जाते हैं। इसलिए मिथ्यात्व या अज्ञान को भगवान् ने अति भयङ्कर कहा है।

ज्ञान ही चारित्र का मूल

ज्ञान से ही जीव, अजीव, धर्म, अधर्म आदि का स्वरूप समझ मे आता है। जिसे जीवादि का ज्ञान नही है, वह धर्म की आराधना कदापि नहीं कर सकता है और न पाप से ही बच सकता है। दश वैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन मे कहा गया है—

जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणन्तो, कह सो नाहिइ सजय ॥

—जो जीव को और अजीव को नही जानता है, वह जीवाजीव के स्वरूप को नही जानते हुए, सयम की आराधना कैसे कर सकेगा—सयम को कैसे जान सकेगा ?

जैसा जिसका ज्ञान होगा, वैसा उसका आचरण होगा। यदि जानकारी विकृत है, विपरीत है या हीन है तो चारित्र भी अवश्यमेव मलिन होगा। हाँ! कुछ के लिए ऐसा सभव है, कि—ज्ञान शुद्ध हो और चारित्र मलिन रहे। अन्तत. शुद्ध ज्ञान-प्राप्त होकर, कदाचित् विलीन भी हो गया हो तो पुन प्रकट होकर, शुद्ध चारित्र की प्राप्ति अवश्य करता है। महाराज 'केशि' कुमार श्रमण भी 'विज्जा' अर्थात् शुद्ध ज्ञान के धारक थे।

ज्ञान दुर्लभ है

केवल जीव आदि तत्वों की जानकारी ही 'विज्जा' अर्थात् ज्ञान नही है। किन्तु उनके स्वरूप की प्रतीति से युक्त जानकारी ही सच्ची 'विज्जा' है। ऐसा ज्ञान सुलभ्य नही है। कहा है—

ज्ञान दुर्लभ है दुनिया मे, धरम सबसे अमोलक है।
यही भगवान् ने भाखा, धरम सबसे अमोलक है॥

ज्ञान दुर्लभ है। रुपये मे किलो या दो किलो के या हजार रुपये के तोले के भाव से कही बाजार मे बिकता नही है। अत. भले ही डिग्रियां खरीदी जा सकती हैं, किन्तु ज्ञान का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता है और न लेन-देन ही हो सकता है। कोई किसी के चित्त मे ज्ञान जबर्दस्ती से ठूँस नही सकता है। दवा जबर्दस्ती से पिलाई जा सकती है और मनुष्य को स्वस्थ बनाने मे मदद की जा सकती है। किन्तु ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कोई औषधि सहायक नही हो सकती है। भले स्मरण शक्ति की वृद्धि मे यत्किञ्चित् सहायक औषधियां मिल सकती हैं। किन्तु प्रतीति युक्त ज्ञान की उत्पादक कोई औषधि नही है। ज्ञान की प्राप्ति स्वय के अन्तरग पुरुषार्थ से ही हो सकती है और अन्तरग पुरुषार्थ से दुर्लभ कोई कार्य नही है। जब अन्तरग पुरुषार्थ दुर्लभ है, तब ज्ञान सहज ही दुर्लभ हो जाता है। ज्ञान के बिना धर्म सम्भव नही है। अत धर्म मूल्यवान हो-इसमे कोई आश्चर्य नही है।

मै जानता हूं

जानकारी का ढोग और वास्तविक ज्ञान मे बडा अन्तर है। व्यक्ति जानता है, कि—धर्म से लाभ और अधर्म से हानि होती है। किन्तु उसके इस ज्ञान का उसके जीवन कितना उपयोग होता है?

सेठजी सोये हुए थे। पास ही की शय्या पर सेठानी भी सोई हुई थी। खटखट की आवाज से सेठानी की नीद खुल गई। सेठानी को निश्चय हो गया, कि—'चोर सेंध लगाकर, भीतर घुस आये है।' सेठजी को मीठी-नींद आ रही थी। वे बोले—'चोर!' सेठानी कहा—'हाँ! चोर।' सेठजी ने कहा—'अच्छा, जान लिया।' सेठजी पुन सो गये।

चोर तिजोरी के पास चले गये। उन्होने क्षणभर मे ही तिजोरी का ताला तोड डाला। सेठानी ने कहा—'तिजोरी तोड डाली है।' सेठ ने करवट लेकर कहा—'जानता हू।' और वह खर्राटे भरने लगा। सैठानी ने समझा, कि—'सेठजी कोई युक्ति सोच रहे हैं। शायद खर्राटे लेना चोरो को भगाने की युक्ति का कोई अग है। इधर चोरो ने धन की गठरी बाँध ली। सेठानी से नही रहा गया। उसने पुन सेठ से कहा—'चोरो ने धन की गठरी बाँध ली है।' सेठ ने कहा—'क्यो सिर खाती है! जानता हूँ।' सेठानी चुप हो गई। चोर गठरी लेकर, दरवाजा खोलकर बाहर निकल रहे थे। सेठानी से नही रहा गया। उसने कहा—अब तो जागो! चोर धन लेकर रवाना हो रहे हैं।' सेठ चिढ़ गया और नीद ही नीद में बोला—'चुप रह! मैं सब जानता हूं।' चोर घर से बाहर हो गये। अब तो सेठानी को भी जोश आ गया। उसने झिझोड डाला और उन्हे हाथ पकडकर, बिठाती हुई बोली—'जानता हूं'-जानता हूं' कर रहे हो। क्या जानते हो? खाक जानते हो! चोर तो धन लेकर रवाना हो गये हैं—

'जाणू जाणू कर रह्या, चोर गये अति दूर'।
सेठानी कह सेठने—'जाणपणा मे धूर'॥

सर्वस्व लुट गया और आप 'जानता हू' 'जानता हूं' करते ही रह गये। धूल पडी आपके ऐसे जानपने मे।'

उन सेठजी जैसी ही जगत् के अधिकाश व्यक्तियो की हालत है। वे कहते हैं, कि—पाप करने से हानि होती है—यह क्या हम नही जानते हैं।' किन्तु जानकारी होते हुए भी विषयरूपी निद्रा मे सारी जिन्दगी खो जाती है और पापरूपी चोर आत्मा के सर्वस्व-धर्मरूपी धन को लूट ले जाते हैं—जीवन के अमूल्य क्षण को लूट जाते हैं। यह ऊपरी स्तर की जानकारी वास्तविक जानकारी नही है।

शुद्ध ज्ञान से चरित्र मे दृढ़ता

यदि व्यक्ति मार से होने वाले दु ख को जानता है तो मार से बचने का उपाय अवश्य करता है और उसका वस चलता है वहाँ तक मार का प्रतीकार भी करता है। इसी प्रकार शुद्ध ज्ञान से आत्मा मे पाप आदि से बचने का प्रयत्न अवश्य होता है। ज्ञान से ही धर्माचरण मे दृढता आती है। परन्तु आजकल कहा जाता है, कि—'ज्यादा जाणे सो ज्यादा ताणे।' यदि कोई गलत बात को तानता है तो उसका ज्ञान क्या ज्ञान रूप मे है ? हमे यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए, कि—अधिक जानकारी अर्थात् विद्वत्ता और ज्ञान मे अन्तर है। विद्वान् व्यक्ति यदि हठी है तो वह अपनी गलत पकड को भी सत्य सिद्ध करने का पयास करता है। किन्तु ज्ञानी की सही बात में दृढता रहते हुए भी किसी से वृथा उलझने की वृत्ति नही रहती है और उसे अपनी गलत पकड को, गलत जान लेने पर छोडने मे भी देर नही लगती है। यदि जो अपने धर्माचरण पर सत्य विश्वास मे दृढ नही रहता है तो वह ज्ञानी ही कैसा ? वह गोवर का खीला तो बन नहीं सकता है।

अर्हन्नक श्रावक को देव ने बहुत कष्ट दिया। समुद्र मे तूफान पैदा कर दिया। भयंकर दृश्य दिखाये। जहाज को औंधा कर देने की धमकी दी। लोग भी घबराये होगे। लोगो ने अर्हन्नक को बुरा-भला भी कहा होगा। अरे ! कितना हठी है। मुँह से जरा-सी बात कहने से इतने जीवो की रक्षा हो सकती है। यह कैसा दयाधर्मी है ? किन्तु अर्हन्नक ने उनकी बातो पर ध्यान नही दिया। उसने सोचा, कि—मेरी साधनारूप सारगी के तीन तार है—(१) मन शुद्धि, (२) वचन शुद्धि और (३) काय शुद्धि। यदि मैं वचन से ही धर्म के विरुद्ध बोलता हू तो मेरी साधना का एक तार टूट जाता है और टूटे तार वाली साधना रूपी सारगी से आराधना के मधुर स्वर नही निकल पायेगे। इस प्रकार वह ज्ञान की विशुद्धि के कारण दृढ रहे। उस समय अन्य को वे हठी रूप मे ही दिखाई दिये। किन्तु उन्होने अपने दुर्गुणो

की पकड मे दृढता नही दिखाई। इसलिए हठ नही है। दूषण मे अपनी तानना अज्ञता है। किन्तु सत्य बात पर दृढ रहना, भले प्राण ही क्यो न चले जाय—यह ज्ञानियो की सम्यग् परिणति है। कहा है—

रखो तन अपना धन देकर, बचाओ लाज तन देकर।
धरम पर वार दो सबको, धरम सबसे अमोलक है।।
ज्ञान दुर्लभ है दुनिया मे, धरम सबसे अमोलक है।।

धर्म पर धन, तन और लज्जा को समर्पण कर देने का जिसमे साहस हो, वही धर्म कर सकता है और उसी ने धर्म की सच्ची कीमत को समझा है। अर्थात् जिसे सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उसकी दृष्टि मे चारित्र या धर्म से अधिक मूल्यवान कोई भी पदार्थ इस ससार मे नही रहता है।

महाराज 'केशि' कुमार श्रमण ज्ञान मे पारगत थे तो चरित्र से भी सम्पन्न थे।

ज्ञान और क्रिया

व्यक्ति सूत्रज्ञान तो सहज मे कर लेता है। कहने को तो मैं यह बात कह गया हू—पर कई लोगो की यह शिकायत कि क्या करे, बहुत सुनते हैं, पढते हैं, पर याद नही रहता है—सुनकर लगता है, कि—सूत्रज्ञान की प्राप्ति भी सहज नही हैं। पर मैं पूछू एक बात—आप किसी को रूपये देते हो तो वे याद रहते हैं या नही? खैर, वह आपके लाभ की बात है तो आप याद रख लेते हो या याददास्त के लिए बहीं-खाते हैं ही। पर आपको हानि की बात याद रहती है या नही? वह भी बात कदाचित् वही खाते मे लिखी मिल जाएगी। पर, किसीने आपको गालियाँ दी, आप उसकी नोट नही करते है न, फिर भी वे गालियाँ प्रसग सहित याद रहती है या नही? ऐन मौके पर उन गालियों का बदला लेने की भावना जाग्रत होती है या

नहीं ! किसी के यहाँ के न्योते-बुलावे मे या लेन-देन मे आपके प्रति कोई भूल हो गई हो तो वह आपको याद रहती है या नही ? वे बातें क्यो याद रह जाती हैं ? क्योंकि उन बातो मे मान-अपमान की कल्पना है और लाभ-हानि का भाव है । अतः मन ही मन बातें घुलती रहती हैं और वे मस्तिष्क मे अंकित हो जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञान की बातो मे भी रस हो और मन पर उनका घर्षण हो—वे मन मे घुलती रहें तो क्यो न रहेंगी वे याद ? यदि ज्ञान में लाभ दिखाई देगा तो ज्ञान सीखने मे उद्यम नही होगा क्या ? खैर विषय यह चल रहा था, सूत्रज्ञान तीव्र स्मृति वालो के लिए सहज हो जाता है। उनके मस्तिष्क मे सूत्रज्ञान इतने क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से स्थित हो जाता है, कि—मानो व्यवस्थित पुस्तकालय हो। किंतु वह ज्ञान चारित्र्य का विरोधी हो तो वह ज्ञान नहीं है। इतना विपुल मात्रा में सूत्रज्ञान होते हुए भी जो आत्मा-चारित्र्य हीन है, उसके लिए वह ज्ञान बोझ है—

खरो जहा चदण-भारवाही ।
भारस्स भागी न हु चदणस्स ॥

जैसे किसी ने गधे पर बहुत उच्च-कोटि का चन्दन लाद दिया। उस चन्दन से मस्त कर देने वाली सुगन्ध आ रही है। किन्तु उस सुगन्ध से गधे को कोई आनन्द नही है। उस बेचारे को चन्दन के भार का ही अनुभव होता है। उसके भाग्य में बोझ को ढोना ही लिखा है—चन्दन की सुगन्ध का आनन्द नहीं। उसी प्रकार सत्क्रिया-चारित्र्य शून्य ज्ञान भी बोझ ही है। चारित्र्य से शून्य या चारित्र का विरोधी सूत्रज्ञान केवल सूत्रज्ञान का बोझ ही जिन्दगी भर ढोता रहता है वस्तुतः उसके लिए ज्ञान की कोई सार्थकता नही है। जो ज्ञान का तो पक्षपाती है और क्रिया का विरोधी है वह वस्तुतः ज्ञान का भी विरोधी है। क्योंकि आचार पक्ष को जो निरर्थक मानता है। जो ज्ञानगत क्रिया के विवेचन को निरर्थक मानता है, वह प्रकारान्तर से ज्ञान

को निरर्थक सिद्ध कर रहा है। जैसे जो शासन न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कदम उठाता है, वह शासन न्यायालय की निरर्थकता सिद्ध करता है। वैसे ही जो ज्ञान के आचारपक्ष की अवहेलना करता है, निरर्थक सिद्ध करता है, वह ज्ञान की निरर्थकता सिद्ध कर रहा है। इसलिए क्रियाशून्य ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है।

यदि क्रिया का पक्षपाती ज्ञान का विरोध करता है तो वह क्रिया का भी विरोध करता है। ज्ञान के विना क्रिया शून्य है। ज्ञान के बिना क्रिया का स्वाद ही नही आ सकता है। ज्ञान से रहित क्रिया हस्ति या वच्चे के स्नान के तुल्य है। हस्ति या वच्चे को स्नान से होने वाली निर्मलता का बोध ही नही है। अत स्नान करने के वाद तुरन्त ही धूल मे लोट-पोट हो जाते है वे। इसलिए उनके लिए स्नान का कोई अर्थ नही है—प्रयोजन नही है। इसी प्रकार ज्ञान के अभाव मे क्रिया की भी यही स्थिति होती है। मुक्ति की क्रिया भी वन्धन की क्रिया में बदल जाती है।

ज्ञान पगु है, क्रिया अन्धी है

जव मैं छोटा था। तव निचली कक्षा में एक कहानी पढी थी। कहानी थी अन्धु और पंगु की। एक अन्धा अपने साथ से भटक गया। वह नगर की ओर जाने के लिए प्रयत्न कर रहा था। किन्तु उसे रास्ता नहीं मिल रहा था। वह कभी झाडियो में उलझ कर गिर पडता, कभी ठोकर से पैर से खून वहने लगता, कभी नगर की ओर मुह करके चलता तो कभी जगल की ओर ही मुह करके तेजी से चलने लगता था। एक पगु को भी उस जगल मे उसके साथी छोडकर चले गये थे। उस पंगु की दृष्टि उस दौडते हुए अधे पर पडी। उसने उस अन्धे को अपने पास वुलाया और पूछा—'कहाँ जाना है?' अन्धा वोला—नगर में। पगु बोला—'आओ' मैं भी नगर मे जाना चाहता हू और तुम भी नगर मे जाना चाहते हो। किन्तु

मेरे पाँव काम नही करते हैं और तुम्हारी आँखें काम नही करती है। अब न तो तुम्हे कोई लेजाने वाला है और न मुझे ही। ऐसी स्थिति मे तो हम इस जगल मे ही मर जाएगे।' पगु चुप हो गया।

अन्धा बोला—'तुम्हारी आँखें होते हुए भी ऐसी स्थिति मे तुम अपना विनाश ही देख सकते हो और मैं पैर होते हुए भी इन पैरो मे दौडकर अपना विनाश ही कर सकता हू। अभी तक के अनुभव से मैं यही समझा हू! अब क्या करना चाहिए!'

पगु हर्ष से बोला—'हां! भाई! मेरी आँखे और तेरे पांव अलग-अलग रहेगे तो ऐसी ही स्थिति होगी। यदि मेरी आँखे और तुम्हारे पैर मिल जाएँ तो हम दोनो आनन्द से नगर मे पहुच सकते हैं।'

अन्धा बोला—'ऐसा कैसे हो सकता है?'

पगु बोला—'हो सकता है मेरे भाई! तुम मुझे अपने कधे पर चढा लो और हाथ मे एक लकडी लेलो। मैं तुम्हे रास्ता बताता जाऊँ और तुम चलते जाओ। बोलो है न ठीक युक्ति।'

अन्धा खुश हो गया और दोनो मिलकर नगर मे आ गए।

जब पाठ्य-पुस्तक मे कहानी पढी थी तब उसमे यह सार दिखाया गया था, अभाव वाले व्यक्ति भी पारस्परिक सम्प से अपना कार्य सिद्ध कर सकते हैं। किन्तु अब लगता है, कि—इस लघुकथा से व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ, एक गभीर दार्शनिक समस्या का भी समाधान होता है। ज्ञान और क्रिया के विरोधी पक्षो के विरोध का इस कथा मे समाधान है। महानिशीथ सूत्र मे भी इसी समस्या के समाधान के लिए इस दृष्टान्त का प्रयोग हुआ है।

ज्ञान पगु है और क्रिया अन्धी है। जैसे अन्धे का सयोग न मिलने पर अन्धे को जगल मे मर जाना पडता वैसे ही अकेला ज्ञान और अकेली

क्रिया, एक-दूसरे के अभाव मे विनष्ट हो जाते हैं और मोक्षरूपी नगर मे नही पहुचा सकते हैं—जीव को। यदि क्रिया के कन्धे पर ज्ञान को चढा दिया जाय तो ज्ञान की पगुता नष्ट हो जाती है और क्रिया की अन्धता दूर हो जाती है। एक दूसरे के अभाव मे साधना निष्प्राण हो जाती है और दोनो के समन्वय से साधना की गति तीव्र हो जाती है। किन्तु ज्ञान और क्रिया के बीच मे एक पदार्थ और चाहिए वह है—श्रद्धा रूपी लाठी। यदि अन्धे के हाथ मे रास्ता टटोलने के लिए लाठी न हो तो दोनो के गिरने की आशका रहती है अर्थात् उनके सयोग की कुछ भी सार्थकता नही रहती है। सूत्रकार महर्षि के शब्दों मे——

> नादमणिस्स णाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
> अणुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

दर्शन-श्रद्धा के विना ज्ञान नही और ज्ञान विना चरित्र-आदि गुण नही होते हैं। गुण से रहित जीवो को मोक्ष की प्राप्ति नही होती है और बिना मोक्ष के निर्वाण नही हो सकता है।

ज्ञान और क्रिया रूप धर्म-कल्पवृक्ष है

जो विद्या और चरण रूप धर्म के पारगामी होते हैं, उनके मनोरथ सफल हो जाते हैं। वे कृतकृत्य बन जाते हैं। व्यक्ति चाहते हैं, कि—हमारी इच्छाएँ पूर्ण हो जायें। वे अपनी मन कामनाओ को पूर्ण करने वाले किसी चिन्तामणी की या किसी कल्पवृक्ष की खोज करते हैं। कल्पवृक्ष क्या देता है?——

श्रोता की ओर से उत्तर—'इच्छित पदार्थ देता है।'

अर्थात् साधारण जन की यह मान्यता है, कि—कल्पवृक्ष के द्वारा समस्त इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। परन्तु मानलो समस्त इच्छाएँ पूर्ण होने लगे

तो व्यक्ति का क्या हाल होगा ? जरा अपनी इच्छाओ पर नजर डालो। क्या अपनी समस्त इच्छाएँ पूर्ण होने योग्य हैं ? मन का कोई ठिकाना नही है। कभी वह अपने लिए हित की इच्छा करता है तो कभी अहितकर इच्छा भी करता है। यदि अहितकर इच्छाएँ भी पूर्ण होने लगे तो मनुष्य सुखी होगा या दुखी ? फिर आप ऐसे कल्पवृक्ष को, जो सभी इच्छाएँ पूर्ण करता हो, वरदान समझेंगे या अभिशाप ? मेरी समझ मे तो ऐसे कल्पवृक्ष तो कम से कम आज के असस्कृत मनुष्य का हित नहीं कर सकते हैं। शास्त्र की दृष्टि से देखे तो कल्पवृक्ष की भी मर्यादाएँ होती है। शास्त्रो मे दस प्रकार के कल्पवृक्षो का वर्णन आता है। कोई भी कल्पवृक्ष अपनी मर्यादा से बाहर की इच्छा पूर्ण नही करता है। वे कल्पवृक्ष भौतिक इच्छाएँ ही पूर्ण करते है और अनिष्ट इच्छाओं को रोकने की भी उनमे सामर्थ्य नहीं है। भौतिक पदार्थ क्षण-भगुर हैं और नाशवान् पदार्थो की प्राप्ति से कोई कृतकृत्य नही हो सकते। अत सच्चा कल्पवृक्ष तो ज्ञान-सहित क्रिया या क्रिया सहित ज्ञान रूप धर्म ही है। इस धर्म से बढकर दुनिया कोई कल्पवृक्ष नही है। इस कल्पवृक्ष का आश्रय लेने से अशुभ इच्छाओ का शमन हो जाता है और सदिच्छाएँ पूर्ण होती है अथवा धर्मरूप कल्पवृक्ष के आश्रय से बिना इच्छा किये ही समस्त सुखो की प्राप्ति होती है। 'केशि' महाराज उस कल्पवृक्ष से भली भाँति परिचित थे। इसलिए उन्होने ज्ञान-क्रियात्मक कल्पवृक्ष का सेवन किया था।

ज्ञान और क्रिया की भिन्ना-भिन्नता

ज्ञान ऐकान्त रूप से क्रिया से भिन्न नही है और क्रिया भी ज्ञान से भिन्न नही है। यदि हम चिन्तन की गहराई मे उतरकर देखे तो ज्ञान और क्रिया एक बिन्दु पर मिले हुए दिखाई देंगे। ज्ञान, सम्यग्-ज्ञान तभी होता है, जब चरित्र की मलिनता आशिक रूप मे धुल जाती है। क्रोधादि की तीव्रता के चरम स्तर की विद्यमानता मे सम्यग् रूपता आ ही नही सकती है

और यह बात तो जैन दर्शन का पाठक भली भाँति जानता है ही, किन्तु सामान्य जन भी जानते है, कि—क्रोधादि चरित्र की मलिनता के हेतु हैं। अतः जब यह नियम है कि—अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चतुष्क के उदय वाले जीव को सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है तो यह बात स्वत सिद्ध हो जाती है कि चरित्र के अमुक अश मे उज्जवल हुए बिना सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है अर्थात् क्रिया ज्ञान मे अभिन्न है। इसी प्रकार ज्ञान भी क्रिया से अभिन्न है। एक बार ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद सम्पूर्ण सम्यग् क्रिया की प्राप्ति अवश्य होती है। इसीलिए क्रिया के ज्ञान के साथ ही ज्ञानाचार की बात भी कही गई है। यह ज्ञान और क्रिया की भिन्नता और अभिन्नता की चर्चा व्यवहार दृष्टि से हुई। जैसे जल और जल का रस परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही ज्ञान और क्रिया भी परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। कभी-कभी व्यक्ति करना कुछ और चाहता है और कह कुछ और बैठता है। इस विषय में आजके मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण देते हैं, कि-यह सब अकस्मात् ही नही होता है। इस असमजसता का कारण उस व्यक्ति के अवचेतन मे विद्यमान रहता है। भीतर बैठी हुई बात जब प्रबल हो उठती है, तब वह इस प्रकार अभिव्यक्त हो जाती हैं अर्थात् अपने शब्दो मे कहे तो भीतर की पकड़ (अवबोध) बाहर की क्रिया को अपने वशीभूत कर लेती है। इन उदाहरण के सहारे हम इस सुदूर स्थिति निर्णय तक पहुच सकते हैं, कि—गहराई से भीतर बैठा हुआ ज्ञान अवश्य क्रिया रूप मे परिणत होता है और उस ज्ञान को भीतर बैठाने के लिए भी साधना करना पड़ती है। निश्चय दृष्टि मे तो ज्ञान और क्रिया रूप भेद हो ही नही सकते हैं। ज्ञान और क्रिया दोनो ही आत्मा है। इसलिये इस गाथा मे इनकी भिन्न-भिन्नता की सूचना करने के हेतु, केशिकुमार श्रमण के विशेषण रूप में 'विज्जा-चरण-पारए' समासयुक्त पद आया है।

एक शंका का समाधान

तेईसवें अध्ययन की द्वितीय गाथा का विवेचन गत दिनो मे हो चुका है। परन्तु इस विषय मे सम्बन्धित एक बात उल्लेख कर देना योग्य है। कुछ व्यक्ति ऐतिहासिक अन्वेषण के नाम पर ऐसा प्रतिपादन करते है, कि–भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा मे, भगवान् महावीर के समय तक आते-आते आचार-शैथिल्य आ गया था और इसके प्रमाण मे शास्त्रो मे अंकित भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा की साध्वियो का जीवन चरित बता सकते हैं। कोई एक विद्वान् ने तो 'पासत्थ' शब्द को ही भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से जोड़ दिया है। इस प्रकार उनका यत्न ऐसा दिखाई देता है, कि–मानो भगवान् महावीर की दृष्टि मे या उनके श्रमणो की दृष्टि मे उस समय की भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा आचार की दृष्टि से बहुत पिछड़ गई थी। किन्तु यह उन विद्वानो का दृष्टि भ्रम है। शास्त्र मे इस बात का उल्लेख हो, ऐसा कही भी देखने में नही आया और यहाँ इस गाथा मे आये हुए 'केशि' महाराज के विशेषण 'विज्जा चरण-पारए' ने तो इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है, कि–भगवान् महावीर और उनके श्रमणो की दृष्टि मे भगवान् पार्श्वनाथ की उस समय मे विद्यमान परम्परा आचार मे शिथिल नही थी। सूत्रकार महर्षि ने 'केशि' महाराज के प्रति कितने सम्मान से युक्त शब्दो का प्रयोग किया है। अर्थात् इस बात से यह निष्कर्ष निकलता है, कि–उस समय मे विद्यमान भगवान् पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा पर आचारशैथिल्य का दोषारोपण असंगत है। हाँ, वैयक्तिक रूप से शिथिल आचार वाले श्रमण हो सकते हैं और ऐसा कौन दावे के साथ कह सकता है, कि–व्यक्तियो मे परम्परा के अनुयायी एकाधिक साधको में दूषण आते ही नही है। किन्तु सजग परम्परा कभी भी उन दूषणो का अनुमोदन नही करती है या तो उस व्यक्ति को सुधारने की चेष्टा करती है या फिर वह सुधरने योग्य न हो तो उसकी उपेक्षा कर देती है।

आज की एक विपरीत स्थिति

इस समाधान के बाद ज्ञान और क्रिया सम्बन्धित वर्तमान काल की स्थिति पर विचार कर लेना भी योग्य है। सम्प्रति ऐसी स्थिति दिखाई देती है, कि–जो साधक ज्ञान मे बढा हुआ है, वह प्राय· क्रिया मे पिछडा हुआ है। जिसमे जितनी अधिक विद्वत्ता दृष्टिगत होती है, उतना ही वह चारित्र सम्बन्धी नियमो मे लापरवाही करता हुआ नजर आता है। इससे विपरीत क्रिया रुचि से युक्त है उसमे ज्ञान की अल्पता दिखाई देती। जिसमे दान विपुल है–विद्वत्ता है, वह ज्ञान की कोट मे क्रिया को धक्का मार देता है और ज्ञान के समक्ष क्रिया को तृणतुल्य बतलाता है। कभी वह युगधर्म के बहाने क्रिया की अवहेलना करता है तो कभी निश्चयनय की ओट मे क्रियाओ को भी धर्म के असाधन के रूप में सिद्ध करते हुए, 'भाव' की वकालात के बहाने आचार्य-शैथिल्य का पोषण करता है। दूसरी तरफ, क्रिया-वादी क्रिया की सूक्ष्मता मे जाते-जाते माया मे फँस जाते हैं। क्रिया पर जोर देते हुए निश्चय से भटक जाते हैं। आत्म-परिणति की उपेक्षासी करके बाह्य क्रियाओ पर विशेष जोर देकर, उस क्रिया के बहाने पक्षान्धता का पोषण करते हैं। प्रश्न होता है–ऐसा क्यो होता है ? इसके अनेक कारण हैं। किन्तु यहाँ सब कारणो की चर्चा करना योग्य नही है। हाँ, कुछ योग्य कारणो पर विचार किया जा सकता है। प्रथम कारण है–अपरिपक्व वैराग्य। पुष्ट वैराग्य अभाव मे ही ऐन्द्रियिक विषय, लोकैषणा आदि आकर्षित करते हैं और साधक प्रपची बन जाता है। दूसरा कारण है–ज्ञान के स्रोतो की पराश्रितता। ज्ञान सयमी गुरुजनो से प्राप्त नही होता है, किन्तु अन्य स्रोतो से प्राप्त करना पडता है। अत विचारो पर वैचारिक प्रभाव पडना सहज है। तीसरा कारण है–दृष्टियो की एकांगिता। एकान्त दृष्टि या पक्षव्यामोह रूप दृष्टि के कारण किसी भी एक पक्ष मे आग्रह बन्ध जाता है। चौथा कारण है–आत्म-प्रदर्शन की वृत्ति। आत्म-प्रदर्शन के लिए, ज्ञान

या क्रिया मे से जो भी अनुकूल हो, उसे साधन बना लिया जाता है। पाँचवाँ कारण है—सामाजिक विषमता। समाज का एक वर्ग आधुनिकता के नाम पर क्रिया की उपेक्षा करता है तो दूसरा वर्ग बाह्य क्रिया पर ज्यादा जोर देता है और भी कुछ सामाजिक अव्यवस्थाएं, साधुओ से कुछ स्वार्थ साधने की अपेक्षाए आदि बाते भी इसी कारण के अन्तर्गत आती हैं। छट्ठा कारण है—भौतिकवाद का प्रभाव। अन्य पक्ष बाधने की वृत्ति, अयोग्य दीक्षाए आदि कई कारण हैं—ज्ञान के या चरित्र के शैथिल्य मे। ज्ञान और क्रिया मे समन्वय से युक्त साधना की दृष्टि वाले साधक आज बहुत ही अल्प हैं और उनका प्रभाव भी अल्प है। इन सब कारणो मे ये दो कारण ही प्रमुख रूप से व्याप्त दिखाई देंगे, कि--साधना की दृष्टि और बुद्धि के सही उपयोग का अभाव। किन्तु हम सिद्धान्त की छाया मे देखते हैं तो हमे यही दिखाई देगा, कि--सच्चे साधक किसी भी एक पक्ष के ज्ञान या क्रिया के-आग्रही नही होते हैं। वे तो दोनो के समन्वय मे ही साधक का उत्थान देखते हैं।

तीसरी गाथा के विषय

तीसरी गाथा इस प्रकार है—

ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससंघ समाउले।
गामाणुगामं रीयते, सावत्थि पुरमागए॥

—वे मति, श्रुति और अवधि ज्ञान वाले बुद्ध, शिष्यो के सघ के साथ, एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण करते हुए, श्रावस्तिपुर मे पधारे।

इस गाथा के पहले पद मे 'केशि' महाराज की ज्ञान-सम्पत्ति का और दूसरे पद मे शिष्य-सम्पत्ति का वर्णन है। तीसरे पद मे उनकी

विहारचर्या का और चौथे पद मे श्रावस्ती नगरी मे उनके पदार्पण का वर्णन है।

इस गाथा के पहले पद का शब्दार्थ 'अवधिज्ञान और श्रुत-ज्ञानवाले बुद्ध' है। इसमें दो ज्ञान का ही उल्लेख है—श्रुत और अवधि, मतिज्ञान का नही। क्या 'केशि' महाराज इन दो ज्ञानो से युक्त ही थे ? नही, उन्हे मतिज्ञान भी था। 'श्रुत' शब्द से मतिज्ञान भी ग्रहण हो जाता है। क्योकि शास्त्र का वचन—मतिपूर्वक ही श्रुत होता है। इसलिए यहाँ मतिज्ञान का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् 'केशि महाराज तीन ज्ञान के धारक थे। एक प्रश्न उठता है, कि—यदि ये 'केशि' महाराज परदेशी राजा के प्रतिबोध देने वाले हो तो वे तो चार ज्ञान के स्वामी थे और यहाँ तीन ज्ञान के स्वामी बतलाये हैं—यह विरोध क्यो ? पहली बात' ये 'केशि' महाराज और परदेशी के गुरु 'केशि' महाराज एक ही थे—यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता है। कदाचित् दोनो 'केशि' महाराज एक ही हो तो सम्भव है, यहाँ 'ओहि-मण सुऐ बुद्धे' पाठ रहा हो और फिर लेखन-प्रमाद या स्मृति-दोष से 'ओहणाण-सुए' पाठ हो गया हो। किन्तु यह कल्पना ही है। इसके लिए कोई प्रमाण नही है। दूसरी बात, यह भी हो सकता है, कि—केशिगौतम के समागम की घटना परदेशी के प्रतिबोध से पूर्व की हो। पर यह बात बुद्धिगम्य नही लगती है।

जीव की पहचान

'केशि' महाराज के परिचय मे ज्ञान गुण का उल्लेख किया गया है। परिचय मे ज्ञान का उल्लेख क्यो किया गया है ?

आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हू बताइये—जीव की पहचान क्या है ? अच्छा, इस प्रश्न का नही तो दूसरे प्रश्न का उत्तर दीजिये, कि—सामने जो वृक्ष खडा है, वह जीव या अजीव ?

श्रोता की ओर से उत्तर—'जीव'

यह पाट जीव है या अजीव ?

श्रोता की ओर से उत्तर—'अजीव'

आपने भला यह कैसे जाना, कि—यह वृक्ष जीव है और यह पाट अजीव है। तब तो आपको जीव की कुछ न कुछ पहचान अवश्य है। आप मे से कई व्यक्ति यह भी जान जाते हैं, कि—अमुक शरीर से जीव निकल गया है और अमुक शरीर मे जीव है। यह आप कैसे जानते हैं ? क्या आपको कोई विशिष्ट ज्ञान हुआ है ? नही। वस्तुत आप अनुमान से जानते है। शरीर के अन्दर जीव के अस्तित्व से अमुक-अमुक क्रियाएं होती हैं। उन क्रियाओ के होने से आप जान लेते हैं, कि—शरीर मे जीव है और उन क्रियाओ के न होने से आप जान लेते है, कि—अमुक शरीर मे जीव नही है। अब आप उत्तर दे सकते हैं, कि—किस गुण से आप जीव को पहचानते हो ?

श्रोता की ओर से उत्तर—'चेतना से।'

ठीक बिल्कुल ठीक उत्तर दिया है आपने। जीव की पहचान चेतना ही से होती है। शरीर मे जीव की विद्यमानता, चेतना के निमित्त से होने वाली शारीरिक क्रियाओ से प्राय जानीजाती है। ज्ञान, चेतना का ही अंश है। इसलिए यहाँ 'केशि' महाराज के परिचय मे ज्ञान गुण का उल्लेख किया गया है।

चेतना के प्रकार

चेतना शब्द से कौन-कौन-सी बातें अभिप्रेत हैं, इस विषय मे विचार कर लें। चेतना किसे कहते हैं ? जानने, देखने और वेदना के लिये चेतना शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् जीव के जिस गुण से पदार्थों का

सामान्य और विशेष रूप मे प्रतिभास होता है और आस्वादन होता है, उसे चेतना कहते हैं ।

चेतना के भेद दो प्रकार से गिने गये हैं । प्रथम प्रकार से चेतना के दो भेद हैं– (१) ज्ञान चेतना और (२) दर्शन चेतना दूसरे प्रकार से चेतना के तीन भेद हैं– (१) ज्ञानचेतना, (२) कर्मचेतना और (३) कर्मफल चेतना मेरी समझ से चेतना के तीन भेद इस रीति से करने पर, प्रकारान्तर से दो चेतना ती आवश्यकता नही रहेगी । वे इस प्रकार हैं–ज्ञानचेतना, दर्शन-चेतना और वेदन चेतना । ज्ञानचेतना के तीन भेद–अज्ञान चेतना, सम्यग् ज्ञानचेतना और मातृभाव चेतना । दर्शन चेतना के चक्षुर्दर्शनादि चार भेद और वेदना चेतना के तीन भेद–कर्मफल चेतना और स्वसवेदन चेतना ।

इन भेदो का उल्लेख से यहाँ इतना ही प्रयोजन है, कि–'ओहि-नाणसुए बुद्धे' पदमे 'केशि' महाराज की ज्ञानचेतना के तारतम्य का वर्णन है । ज्ञान जीव का असाधारण गुण है । इसलिए जीव की पहचान भी ज्ञान गुण से ही होती है । आगम मे कहा गया है—

जे आया से विन्नाया,
जे विन्नाया से आया ।

जो आत्मा है, वह विज्ञाता = जानने वाला है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है । अर्थात् चेतना के विभिन्न अशो मे भी ज्ञान का प्रमुख स्थान है । यहाँ 'केशि' महाराज के ज्ञान, चारित्र और शिष्यादि के वर्णन से तीनो चेतना का वर्णन आ गया है । जीव द्रव्य का लक्षण ही है–'चेयणा लक्खणो जीवो' = जीव का लक्षण चेतना है ।

लक्षण किसे कहते हैं

जो गुण या भाव किसी भी अवस्था मे न छूटें, उसे लक्षण कहते हैं या जिस गुण का भाव के द्वारा पहचान होती है, उसे लक्षण कहते हैं ।

अर्थात् जिस गुण से कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न रूप से जाना जाता है, वह लक्षण है।

लक्षण की इस परिभाषा के अनुसार हम देखें तो हमे चेतना ही जीव का लक्षण दिखाई देगा। चेतना से ही जीव अन्य द्रव्यो से भिन्न है, चेतना से ही जीव की पहचान होती है और किसी भी अवस्था मे जीव चेतना से रहित नही होता है। एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक और सिद्ध पर्यन्त समस्त जीवो मे चेतना है। निगोद मे भी जीव चेतना-विहीन नही होता है। प्रसगवशात् निगोदका कुछ परिचय दे देते हैं। निगोद अर्थात् वनस्पति-कायिक जीवो का एक ऐसा विभाग है, जिसमे एक शरीर मे अनन्त जीव होते हैं। निगोद के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म निगोद समस्त लोक मे व्याप्त हैं। वे निगोद हमारी इन्द्रियो के द्वारा गम्य नही है। जमीकन्द, अकुर, गँवारपाठा आदि बादर निगोद हैं। उसमे सूई के अग्रभाग पर जितना अंश आता है, उतने अंश मे असख्य शरीर है और एक-एक शरीर मे अनन्त-अनन्त जीव हैं। उन निगोदिये जीव का शरीर अत्यत छोटा होता है। किन्तु इतने छोटे शरीर मे भी उनकी समस्त चेतना आवरित नही है। चेतना का कुछ न कुछ अश अवश्य खुला है। उनमे भी क्रोधादि दशो संज्ञाएं हैं। मति और श्रुत नाम के दो अज्ञान हैं और अचक्षुदर्शन नामक एक दर्शन है। इस प्रकार वे चेतना-विहीन नही हैं। जैसे सूर्य के ऊपर कितने ही घटाटोप बादल छा जाए तो भी दिन और रात का भेद तो मालूम होगा ही। वैसे जीव पर कितने ही कर्मों का आवरण आजायें, परन्तु वह चेतनावान ही रहेगा।

जीव अपने आपको भूल गया है

चेतना का अश ज्ञान है। जीव ज्ञान से ही समस्त पदार्थों को जानता है अर्थात् ज्ञाता है वह जीव है और जीव है वह ज्ञाता है। परन्तु कैसी

विडम्बना है, कि–जीव ज्ञाता होते हुए भी अपने स्वरूप के विषय में अनजान है। बड़े आश्चर्य की बात है, कि–जो दुनिया के समस्त ज्ञान-विज्ञान का निर्माता है, वह अपने आपको नही जानता है। आप कहेंगे, कि–'यह कैसे सम्भव है, कि–हम अपने आपको नही जानते हैं। हम यह अच्छी तरह से जानते है, कि–हम अमुक चन्द या अमुक लाल, बाल, युवा या वृद्ध, काले या गोरे हैं। किन्तु अपनी यह पहचान वास्तविक पहचान नही है। दुनियाभर की बहुत जानकारी हो, लेकिन अपने आपको नहीं जाना तो वह क्या जानकारी है? क्या यह हो सकता है, कि–व्यक्ति अपने-आपको भूल जाय? हाँ! ऐसा हो सकता है।

बात ऐसी है, कि–अति समीप की वस्तु पर प्राय व्यक्ति की अपेक्षा रहती है। जिसका फल यह होता है कि–वह उसके विषय मे अनजान रह जाता है। बड़े-बड़े गणितिज्ञ हैं दुनिया मे कोई नक्षत्रो की गिनती लगा रहा है कोई 'एटम' के कणो की गिनती लगा रहा है, तो कोई पृथ्वी, शुक्र, चन्द्र आदि की आयु के काल की गिनती लगा रहा है और कोई ग्रहादि की दूरी का नाप निकाल रहा है। किन्तु कोई उनसे पूछे, कि–तुम्हारे घर के जीने की कितनी सीढियाँ हैं? बोलो, आपसे पूछे, कि–आपके घर के ज़ीने की कितनी सीढियाँ हैं–बता सकोगे क्या आप? नही एकाएक बताना कठिन होगा। क्योंकि कभी गिनने का काम ही नही पड़ा। पर लोग कुतुबमीनार पर चढ़ेंगे तो प्रायः उसके सोपान गिनते हुए चढ़ेंगे। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है, कि–रोज उपयोग मे आने वाली निजी वस्तुओ के विषय से प्राय· अल्प व्यक्तियो की ही जिज्ञासा होती है और आप खुद तो अपने साथ निरन्तर हैं ही। इसलिए अपने स्वरूप के विषय मे जिज्ञासा होना ही सहज नही है और कदाचित् जिज्ञासा हो भी जाती है तो 'अपने आपके विषय मे क्या जानना है? क्या हम अपने आपसे अज्ञात हैं??'–इस भाव के कारण वह जिज्ञासा दब जाती है। यदि जिज्ञासा तीव्र भी रहे तो 'स्व'

से जुड़े हुए पर मे ही--पर को सभालने मे ही--दृष्टि उलझ जाती है और व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है।

अरे! बीसवाँ कहाँ गया?

बीस व्यक्ति यात्रा के लिए पैदल ही जा रहे थे। रास्ते मे एक बड़ी नदी आई। नदी पार करना थी, किन्तु नाव का कही पता नही था। उन्होंने सोचा, कि--नदी पार करने का कोई साधन नही है। चलकर ही नदी पार करना होगा। उन्होने परस्पर विचार विनिमय किया। यही निर्णय हुआ, कि--'चलकर तो नदी पार नही हो सकती है। क्योकि कही-कही नदी बहुत गहरी है। इसलिए तैरकर नदी पार करना चाहिए।' बीसो ही अच्छे तैराक थे और शक्तिशाली थे। बीसो ही तैराक सामने के किनारे पर पहुच गये। सभी मिल गये। कपड़े सुखाने के लिये डाल दिये। फिर विचार हुआ, कि--अपनी गिनती कर लेना चाहिए। नदी गहरी और ज्यादा चौडी थी। तैरने का श्रम और उस नदी की गहराई का अनुभव अभी मस्तिष्क से दूर नही हुआ था। उन्हें भय था, कि--कोई व्यक्ति भीतर ही न रह गया हो। एक व्यक्ति गिनने लगा। गिनती उन्नीस आई। भय की छाया दौड गई। दूसरे ने गिना तो भी उन्नीस। यो क्रम से सभी ने गिना और प्रत्येक की गिनती के बाद भय की छाया गाढी होती गई। सबकी गिनती मे उन्नीस व्यक्ति ही आये। अब भय चिन्ता और शोक मे बदल रहा था। अरे! बीसवाँ कहाँ गया? नदी मे तो नही बह गया। वे नदी की ओर दृष्टि करके देखते है, किन्तु दूर-दूर तक कोई दिखाई नही देता है। वे व्याकुल हो रहे थे। इतने मे एक अन्य पथिक आया। उन्होने अपनी दु:खभरी गाथा उसे सुनाई। उसने देखा, कि--व्यक्ति पूरे बीस हैं। किन्तु गिनती मे उन्नीस हैं--इसका कारण क्या है? वह कारण भाँप गया। उसने कहा--'देखो भाई! मैं तुम्हारे साथी को खोज दू गा। किन्तु मैं तुम्हे गिनते हुए एक-एक कोड़ा

लगाऊंगा। बोलो है–मन्जूर।' वे बोला–'भले ! कोडा लगाओ। पर हमारा साथी हमे मिल जाना चाहिए। यदि साथी नही मिला तो दो-दो कोडे हम तुम्हे लगाएगे।'

पथिक 'अच्छा'–कहकर हँस दिया और उसने कोड़ा हाथ मे लेकर उनकी पीठ पर प्रहार करते हुए गिनना प्रारम्भ किया। वह कोडा लगाने के बाद 'एक-दो' संख्या बोलता जा रहा था। बीसो की सख्या पूरी हो गई। अब उन्होने स्वय गिना तो निकले पूरे बीस। वे बोले–'वाह ! क्या जादू है ?'

पथिक बोला–'कुछ भी जादू नही है ! नदी को तैरने और भयपूर्ण वातावरण के कारण आपकी बुद्धि भ्रमित हो गई। इसलिए गिनती करते हुए, दूसरे की चिन्ता मे अपने आपको गिनना भूल जाते थे। किन्तु कोड़े की मार से आपका ध्यान, उस कोड़े के प्रहार की चिरमिराहट मे चला गया है और भ्रम की छाया दूर हो गई है। इसीलिए अब गिनती ठीक हो रही है।'

ऐसी ही दशा है–जीव की। वह इस कर्म-रूप प्रवाह की गहनता में, सचित्त-अचित्त द्रव्य के सयोग-वियोग से उत्पन्न भ्रम के कारण अपने-आपको भूल जाता है। किन्तु सद्गुरु के द्वारा उपदेश रूपी कोड़े लगने पर, उसका भ्रम दूर हो जाता है।

भ्रम में भी ज्ञान-चेतना का अस्तित्व

व्यक्ति जब भ्रमजाल मे फँस जाता है, तब भी ज्ञान-चेतना रहती है। किन्तु वह ज्ञान विकृत होता है। जैसे पहले कहे हुए उदाहरण मे–भ्रमित व्यक्ति एक-दूसरे को जान देख रहे थे। किन्तु जाननादेखना ठीक नही था इसी प्रकार आत्म-स्वरूप से अज्ञात व्यक्ति भी समझने के लिए

उद्यम करता है और विद्वत्ता भी प्राप्त करता है। किन्तु उनके ज्ञान मे भ्रम विद्यमान रहता है। अत. वह जानकारी मिथ्या ज्ञान कहलाती है। अर्थात् मिथ्यात्व से युक्त मति, श्रुति और अवधि अज्ञान है और सम्यक्त्व से युक्त मति, श्रुति और अवधि सम्यग्-ज्ञान या ज्ञान है।

यहाँ सूत्रकार महर्षि ने 'बुद्धे' मति, श्रुति और अवधि को भ्रम से रहित बतलाया है। अर्थात् 'केशि' कुमार श्रमण अभ्रान्त मति, श्रुत और अवधि के स्वामी थे। वे बुद्ध थे—सम्यग् ज्ञानी थे। कई व्यक्ति ज्ञान के नाम से भडकते हैं। वे ज्ञान से क्यो भडकते हैं?—उन्हे ससार प्यारा है—इसलिए? इससे विपरीत है ज्ञान की अवस्था। ज्ञान मे संसार का रस उड जाता है और ससार मे रस आता है—भ्रम के कारण। ज्ञान भ्रम का उच्छेदक है अत ससार प्रेमी जीव जान-बूझकर भ्रम पालना चाहता है। वे नही चाहते, कि—उनके भ्रम का आवरण खिसक जाए। वे कभी-कभी उस भ्रम को बनाये रखने के लिए कृत्रिम उपायो का सहारा भी लेते हैं अर्थात् भ्रम को बनाये रखने मे भी वह भ्रमित चेतना ही कार्य करती है। भ्रम, चेतना मे यह कल्पना खडी कर देता है, कि—ससार का रस उडा, कि—आनन्द के स्रोत बन्द हुए। इसलिए व्यक्ति प्रायः ज्ञान की शुद्धि के उपायो से दूर भागता है—ज्ञान से सम्यग् ज्ञान से भड़कता है।

पांच ज्ञान

वस्तुत ज्ञान से भडकना नही चाहिए। ज्ञान से आनन्द के स्रोत बन्द नही होते हैं—खुलते हैं। चेतना के ज्ञान भेद के उपभेद दो हैं—अज्ञान और सम्यग् ज्ञान। अज्ञान जीव की भ्रमपूर्ण जानकारी को कहते हैं और सम्यग् ज्ञान, जीव के लिए हितकर वास्तविक जानकारी को। सम्यग् ज्ञान के प्रभेद पाँच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन·पर्यव और केवल ज्ञान। इनमे से मति, श्रुत और अवधिज्ञान के स्वामी केशि महाराज थे। मतिज्ञान किसे कहते

है ? पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाले बोध विशेष को मतिज्ञान कहते हैं । वाच्य-वाचक के उल्लेख या अक्षरोल्लेख पूर्वक होनेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं । मति और श्रुतज्ञान के भेद को बताना बडा कठिन है। इसलिए उस चर्चा मे न जाते हुए, यहाँ श्रुतज्ञान की स्थूल परिभाषा–'श्रुत से होनेवाला बोध'–से ही काम चलाएगे । अर्थात् सम्यग् श्रुत से होने वाले बोध को श्रुतज्ञान कहते हैं । इन्द्रियाँ और मन की सहायता के बिना ही आत्मा के द्वारा रूपी पदार्थों के मर्यादित बोध को अवधिज्ञान कहते हैं। आत्मा के द्वारा मन को पर्यायों–अवस्थाओ का होने वाला बोध मन पर्यव ज्ञान है और आत्मा के द्वारा रूपी-अरूपी समस्त द्रव्यों तथा उनकी समस्त अवस्थाओ के बोध को केवल ज्ञान कहा गया है । इन पाँच ज्ञान के विषय को स्पष्ट करनेवाले नन्दी सूत्र आदि, आगम और ज्ञान बिन्दु आदि कई ग्रन्थ हैं ।

ज्ञान और प्रमाण

जैन दार्शनिको ने ज्ञान को ही प्रमाण माना है । वे कहते हैं।

'स्व-पर व्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्'

स्व और पर का निश्चयात्मक या निश्चय करनेवाला ज्ञान प्रमाण है। अत ये पाँचो ज्ञान प्रमाण हैं । इन पाँचों ज्ञानो को दो प्रमाणो मे विभाजित कर दिया गया है–प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण । अक्ष अर्थात् आत्मा । आत्मा के द्वारा होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है और मन तथा इन्द्रियो के माध्यम से होनेवाला ज्ञान परोक्ष प्रमाण है । जब लोक व्यवहार की दृष्टि से 'अक्ष' शब्द का 'इन्द्रिय' अर्थ भी किया जाता है, तब इन्द्रियों के माध्यम से होनेवाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रमाण में गर्भित कर लिया जाता है । परन्तु जैन दार्शनिको का झुकाव 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' को परोक्ष मानने की ओर ही विशेष है । नन्दी सूत्र मे ऐन्द्रियिक ज्ञान को 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' माना

है। वह साव्यहारिक प्रत्यक्ष है–जो कि परमार्थतः परोक्ष ही है। पांचो ज्ञान इन दो प्रमाणो मे विभाजित हो जाते हैं। मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अवधि, मन पर्यव तथा केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। दुनिया के लोक और अन्य दार्शनिक जिसे प्रत्यक्ष ज्ञान मानते है, उसे जैन दार्शनिक परोक्ष ज्ञान मानते हैं। इस प्रकार जैन दार्शनिको के द्वारा मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण परिभाषा अन्य दार्शनिको को मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। जैन दार्शनिको की दृष्टि मे आत्मा और ज्ञेय पदार्थ के बीच कोई माध्यम जानकारी मे सहायक बनता है तो वह ज्ञान परोक्ष हो जाता है, चाहे वह माध्यम इन्द्रियाँ ही क्यो न हो। यद्यपि इन्द्रियाँ और मन आत्मा के अश है। किन्तु लब्धि और उपयोग रूप भाव इन्द्रियाँ और भाव मन ही आत्मरूप हैं और उपकरण और निवृति रूप द्रव्य इन्द्रियाँ और द्रव्यमन पौद्गलिक हैं। उन पौद्गलिक साधनो के अभाव मे भाव इन्द्रियाँ और भाव मन कार्यरत नही हो सकते हैं। इसलिए इन्द्रियो और मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान आत्मा के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान नही है।

व्यापार दो तरह से होता है। एक पद्धति मे खरीददार या क्रेता सीधा विक्रेता से वस्तुएं खरीदता है और दूसरी पद्धति मे क्रेता के बीच में कोई माध्यम यानी दलाल आदि कार्य करता है। क्रेता-विक्रेता के बीच मे जब दलाल रहता है तो व्यापार पर उस बीच वाले व्यक्ति के स्वार्थ का भी प्रभाव पडता है। इसी प्रकार मन आदि के माध्यम से होनेवाले ज्ञान में इन्द्रियादि की बनावट के कारण अन्तर पड़ता है। जैसे नीम की पत्ती मनुष्य को कड़वी लगती है और वह खाना नही चाहता है। किन्तु ऊट नीम की पत्ती को बड़े चाव से खाता है यानी ऊट को वे पत्तियाँ स्वादिष्ट लगती हैं। इससे सिद्ध होता है, कि–मनुष्य और ऊट के स्वाद-ज्ञान मे भेद है। मनुष्य-मनुष्य के स्वाद-ज्ञान मे भी भेद होता है। अन्य इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त शब्द, गन्ध आदि के ज्ञान मे भी भिन्नता दिखाई देती है। जीवो की इन्द्रियो की बनावट मे भिन्नता होती है ही और इन्द्रियो के उपकरण भी

भौतिक-पौद्गलिक हैं। अतः उन पर वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। दूसरी बात, इन्द्रियो का ग्राह्य पुद्गल ही है। किन्तु शब्द, वर्णादि के समस्त स्तरो को ग्रहण करने की शक्ति इन्द्रियों मे नही है। इन्द्रियो की ग्रहण शक्ति से ऊचे या नीचे स्तर के पुद्गल स्कन्धो को इन्द्रियाँ ग्रहण नही कर सकती हैं। इसलिए इन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति मे दलाल बनेंगी तो उनके द्वारा कैसा और कितना ज्ञान प्राप्त हो सकेगा—इसका हम अनुमान लगा सकते हैं। इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त ज्ञान अस्पष्ट ही रहेगा, भले ही दुर्वीक्षणादि यन्त्रो का ही सहारा क्यो न लिया जाय। क्योकि वे यन्त्र भी भौतिक हैं। अतः उनमे भी शक्ति का तारतम्य रहेगा ही और वे वातावरण से यत्किन्चित भी प्रभावित न हो, ऐसा भी क्या सम्भव हो सकेगा?—नही। बस, तो फिर वह ज्ञान कितना ही स्पष्ट क्यो न हो, किन्तु पूर्ण ज्ञानियो की दृष्टि मे वह अस्पष्ट है और अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष ज्ञान ही कहा है। स्पष्ट ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

'केशि' महाराज परोक्ष प्रमाण और देश प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वामी थे। उनकी साधना सर्व प्रत्यक्ष प्रमाण की प्राप्ति की ओर गतिशील थी। उनकी मान्यता यह थी, कि—सर्व प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अरूपी पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकता है। देशप्रत्यक्ष प्रमाण से रूपी पदार्थों का ही स्पष्ट ज्ञान होता है। रूपी-अरूपी समस्त पदार्थ परोक्ष प्रमाण के ऐन्द्रियिक ज्ञान, आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण के द्वारा अस्पष्ट रूप से अवश्य गम्य होते हैं। जब तक आत्मा सर्वज्ञ नही बन जाता है, तब तक उसके लिए श्रुतज्ञानादि परोक्ष प्रमाण आवश्यक हैं।

अनुमानादि भी प्रमाण हैं

जो व्यक्ति केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है और आगमादि प्रमाणो का निषेध करता है, वह व्यक्ति भ्रमसागर मे डूब जाता है।

यद्यपि आगम संज्ञा से पुकारे जाने वाले सभी ग्रन्थ और सभी अनुमान असंदिग्ध नही होते है, अतः सभी पुस्तकें और समस्त अनुमान कभी भी प्रमाण कोटि मे नही आ सकते हैं, फिर भी आगम और अनुमान को प्रमाण मे से बिलकुल ही बाहर नही निकाले जा सकते हैं। लोकव्यवहार मे भी किसी न किसी रूप मे श्रुत और अनुमान की प्रमाणिकता चली आ रही है। उनके माध्यम से कई लोक व्यवहार चल रहे हैं। समस्त विज्ञानो के अनुभवो का संचय ग्रन्थो मे अक्षरो के द्वारा ही होता है और लिप्यक्षर द्रव्य श्रुत है। कौनसा ऐसा विज्ञान है जिसमे पुस्तकों के द्वारा ज्ञान सुरक्षित न किया गया हो और उन ग्रन्थो को प्रामाणिक न माना जाता हो। इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान में अनुमान का अवलम्बन लिया जाता है। लोक-व्यवहार मे वही-खाते और अटकलो की उपयोगिता पद-पद पर देखी जा सकती है। फिर धर्म मे श्रुत और अनुमान की अप्रामाणिकता मानना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।

कई व्यक्ति कहते हैं, कि–हमे आत्मा आंखो मे दिखा दो तो हम माने, कि-आत्मा है। वे कहते हैं, कि–ऐसी किरणों का आविष्कार हो चुका है, कि–जिनके द्वारा शरीर के भीतर के समस्त क्रिया-कलाप को देखा जा सकता है–हड्डियो को देखा जा सकता है–रग-जालो को देखा जा सकता है तो फिर आत्मा उन किरणो से क्यो दिखाई नही देता है? किन्तु वे भूल जाते हैं, कि–किरण स्वय रूपी द्रव्य है। वह किरण चमडी, रक्त-प्रवाह आदि रूपी द्रव्यो का स्पष्ट चित्र अन्कित नही कर सकती तो आत्मा तो अरूपी द्रव्य है, वे किरणे उस जीव द्रव्य को कैसे बता सकेगी? इन्द्रियो के द्वारा होने वाले ज्ञान की प्रामाणिकता के पक्षपाती, अपनी इन्द्रियो से भिन्न पदार्थो की प्रामाणिकता कैसे मानते हैं? उन क्षकिरणादि का ज्ञान किसी से प्राप्त किया। उनसे दिखाई देने वाले अमुक–आकार-प्रकार हड्डियाँ हैं–यह जाना और चित्र मे अमुक–प्रकार की रेखाएँ हो तो हड्डी-क्रेक है–यह

जाना-और जब-जब इस प्रकार के चिन्ह होते हैं तब-तब हड्डी क्रेक होती है-यह अनुमान करना जाना, तब उस 'क्ष' किरण की प्रामाणिकता जानी न ? इस प्राणिकता की प्रक्रिया मे श्रुत और अनुमान का कितना बडा हाथ है-यह हम स्पष्ट देख सकते है। अत. सिर्फ इन्द्रियो के द्वारा आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति का आग्रह, उनकी बाल-वृत्ति को ही प्रकट करता है। सूत्रकार महर्षियो ने स्पष्ट घोषणा की है, कि—

'नो इदियगेज्झ अमुत्त भावा'
—अमूर्त पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नही होते हैं।

मेरे पास तो ढब्बु पैसा ही है

जैसे एक ही कसौटी पर समस्त पदार्थो के खरे-खोटेपन की परीक्षा नही की जा सकती है। वैसे ही एक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा ही समस्त वस्तुओ का ज्ञान नही हो सकता है। एक ही कसौटी पर समस्त वस्तुओ को कसनेवाले हँसी के पात्र बन जाते हैं।

एक किसान के बेटे को किसी काम से अन्य ग्राम मे जाने का प्रसंग आया। अकस्मात् ही प्रसग उपस्थित हुआ था। उस ग्राम से कार्य करके, साँझ तक वापिस घर लौटना था। अत उसे रात को जल्दी ही सुबह होने से पहले ही घरसे रवाना होना था। माँने तबतक रोटी नही बनाई थी। भाता ले जाने के लिए कोई चीज थी नही। उसके अकेले जाने का पहला ही प्रसग था। माँने उसे कुछ शिक्षा दी और कहा-'बेटा! घर मे अभी कोई खाने की चीज ऐसी नही है, जो तुझे भाते मे दे दूँ। ले, यह ढब्बु पैसा लेजा। भूख लगे तो इससे कुछ खरीद कर खा लेना। मुफ्त मे माँगकर, कही कुछ मत खाना।'

कुछ समय पहले तक दो पैसे की कीमत का एक बडा तांबे का पैसा चलता था, जिसे टका कहते थे। गुजरात की सीमा के ग्रामो मे उसे ढब्बु

पैसा कहा जाता था। उस लड़के ने वह पैसा सम्हालकर रख लिया और घर से रवाना हो गया। उसे जिस ग्राम मे जाना था, वहाँ पहुच गया और काम करके, वापिस लौट गया। रास्ते मे चलते-चलते धूप चढ गई। वह तेज चाल से चल रहा था। परन्तु अभी उसका ग्राम बहुत दूर था। उसे प्यास और भूख सताने लगी। रास्ते मे एक और गांव आया। उसने विचार किया, कि—'यहाँ से कुछ खरीदकर खा लूँ और फिर आगे बढ़ूं।'

उस कृषक-पुत्र की शादी बहुत छोटी उम्र में हो गई थी। उसे थोडी-सी स्मृति मात्र थी। परन्तु वह शादी के बाद कभी भी अपनी सुसराल मे आया नही था। उसकी स्त्री भी अभी उसके यहा नही आई थी। उ ने जिस ग्राम मे कुछ खरीदकर खाने का विचार किया, वह उसकी सुम॰ाल का ही ग्राम था। लेकिन उसे पता नही था, कि—यही मेरी सुसराल है। वह खाने की वस्तु खरीदने के लिए, इधर-उधर घूमने लगा। वहाँ कोई दुकान नही थी। एक-दो जनों से पूछा तो कोई भोजन बनाकर खिलाने को राजी नही हुआ। वह पूछता हुआ अपने सुसराल के आँगन मे जा खडा हुआ। उसके बड़े साले ने उसे पहचान लिया। कृषक-पुत्र ने पूछा—'क्या यहाँ कुछ खाने की वस्तु मिल सकेगी?' साले ने उसके चेहरे से उसकी सारी परशानी भाप ली। उसने शान्ति से उत्तर दिया—'हाँ! आइये। यहाँ भोजन की व्यवस्था हो सकेगी।'

साले ने बहनोई को आदर के साथ उचित स्थान पर बिठाया। लौटा भरकर पानी लाया। हाथ-मुंह धुलाये। फिर पीने के लिए पानी और गुड की डली लाया। उसने गुड की डली मु ह मे डाली और पानी पिया। कुछ मन शान्त हुआ तो विचार दौडने लगे—'अरे! इनने मुझे गुड खिलाया और पानी पिलाया। शायद ये समझते होंगे, कि—यह बडा ग्राहक होगा! पर मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा कुछ नही है।' उससे रहा नही गया। वह साले से बोला—'देखिये साहब! मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा देने के

लिए, एक पाई भी नहीं है। अतः उसके अनुसार ही आप भोजन तैयार कर-आइयेगा।' साले ने उसकी अज्ञता का मजा लेते हुए कहा-'हाँ, साहब ! उसके अनुसार ही तैयारी होगी। घबराइये मत।'

जब दामाद घर आये तो उसकी थाली मे सूखी रोटी ही रख दे क्या ? और वह तो भूल से ही सही, पर पहली बार ही सुसराल आया था। भले ही किसान हो तो क्या हुआ ? जमाई तो जमाई ही है। सूक्तिकार तो कहते हैं, कि—

'जामाता दशमो ग्रह.'

ग्रह नव हैं। पर जमाई दसवाँ ग्रह है। अन्य ग्रहो की दशा तो अमुक समय के बाद उतर जाती है। किन्तु जामाता ग्रह की दशा तो जिन्दगीभर तक चलती रहती है। हाँ ! साले ने भीतर मधुर भोजन तैयार करने की सूचना कर दी।

भोजन बनने मे देर हो रही थी। मीठी-मीठी महक भी भीतर से आ रही थी। कृषक-पुत्र को कुछ शंका हुई, कि—कुछ विशिष्ट भोजन तैयार हो रहा है। वह पुन. बोला— देखिये साहब ! सोच-समझकर भोजन तैयार करवायें। मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा कुछ नहीं है।' साला मन ही मन मुसकाया और बोला-'कोई बात नही। अभी आप अपना पैसा अपने पास ही रखिये।'

भोजन तैयार हो गया। भोजन का थाल सामने आया। भोजन-सामग्री देखकर, कृषक-पुत्र भड़क गया। वह बोला—'आपने यह सब क्यो बनवाया ? मेरे पास तो सिर्फ ढब्बु पैसा ही है।' साले के मुंह पर मुसकान फैल गई। वह बोला-'कोई बात नही, आप भोजन करिये।' वह चुपचाप सकोच के साथ भोजन करने लगा। थाल की भोजन-सामग्री समाप्त भी नहीं हुई थी, कि—पुन मनुहार के साथ भोजन परोसा जाने लगा। कृषक-पुत्र

भुंझला उठा, कि—'यह क्या खिलवाड ? क्या मेरे साथ ठगाई तो नहीं हो रही है ?' वह तीखे स्वर मे बोला—'आप मनुहार तो कर रहे, परन्तु मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा कुछ नही है।' साले ने मजाक करते हुए कहा—'यह तो मुझे मालूम है और यह सब ढब्बु पैसे मे ही तो हो रहा है।' कृषक-पुत्र बोला—'अच्छा, आपके यहां तत्र तो पूरा सुकाल है।' घर के भीतर से भी हसी की धीमी-धीमी ध्वनि आ रही थी।

उसने भोजन किया। बाहर आया। वह साले को ढब्बु पैसा देने लगा। साले ने कहा—'अभी रहने दीजिए। अभी थोडा आराम कर लीजिये।' एकान्त हवावाले स्थान मे उसकी शय्या बिछा दी। वह शय्या देखकर बोला—'अच्छा ! यहाँ ढब्बु पैसे मे आराम की भी व्यवस्था है ?' साले ने बडी मुश्किल से अपनी हसी रोकी। हसी को पीते हुए उसने कहा—'जी, हाँ' और वह चला गया। कृषकपुत्र सो गया। आँखें मीचकर, वह कुछ सोच रहा था। इतने मे उसे अपने पाँव पर, हलकी-सी चाँप का अनुभव हुआ। बात यह हुई थी, कि—उसकी स्त्री को अपने पति की ढब्बु पैसे की रट अच्छी नही लग रही थी। बच्चे भी उसे चिढा रहे थे—'भुआ ! ढब्बु पैसेवाले फूफाजी आये !' 'जीजी ! ढब्बु पैसेवाले जीयाजी आये !' वह मन ही मन मे घबडा रही थी। अतः वह अपने पति को, एकान्त देखकर, चेताने आई थी।

जब कृषकपुत्र ने चाँप का अनुभव करके, आँखें खोली तब उसने एक षोड्शी को देखा। वह घबडाया। एक दम उठ बैठा और बोला—तुम कौन हो ? यहाँ क्यो आई ? देखो मेरे पास ढब्बु पैसे से ज्यादा एक पाई नही है। वह स्त्री हस पडी। परन्तु चिढ़कर बोली—'हाँ ! मे भी ढब्बु पैसे मे ही आ रही हूं ? अरे ! कुछ तो अक्ल से काम लो ! यह सब इतना काम क्या ढब्बु पैसे के लिए ही हो रहा है ? यह आपकी सुसराल है। अब जिन्दगी भर के लिए, आपके सिर पर ढब्बु पैसे की छाप लग गई है।'

किसान का बेटा भौचक्का रह गया। वह बोला—'अच्छा, यह मेरी सुसराल है? मुझे क्या मालूम?'

स्त्री बोली—'अरे! ढब्बु पैसा ढब्बु पैसा ही करते रहे! कुछ अनुमान की आँखों से तो देखना था कि—इतना आदर-सत्कार दिया जा रहा है तो यहाँ कुछ अपना सम्बन्ध तो नहीं है? क्या आप अन्य घरों पर भोजन के लिए नहीं फिरे थे?—उन लोगों ने तो आपका इतना सम्मान नहीं किया?'

कृषकपुत्र शर्मिन्दा हो गया। फिर उसने ढब्बु पैसा वहाँ दिया या नहीं और उन लोगों ने लिया या नहीं लिया—इसका अपने विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह सब बातों को एक ढब्बु पैसे की कसौटी पर कसते हुए अनुमान से काम न लेने के कारण स्वयं ढब्बु बन गया।

परखने की विभिन्न कसौटियाँ

सोने को कसने की कसौटी पर हीरा नहीं कसा जाता। हीरे की कसौटी पर घी-तैल नहीं कसा जाता। विभिन्न पदार्थों को परखने के लिए विभिन्न कसौटियाँ होती हैं। इसी प्रकार छद्मस्थ जीव के लिए ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय पदार्थों को परखने की एक ही कसौटी नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष, आगम, अनुमादि प्रमाण को मान्य करना योग्य है। आर्य केशि महाराज के 'ओहिनाण सुए बुद्धो' विशेषण में यही बात बताई है।

सत् की परिभाषा

सामान्य रूप से 'जो है' उसे 'सत्' कहते हैं और 'जो नहीं है' उसे 'असत्' कहते हैं। किन्तु दार्शनिकों ने 'सत्' की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। जैन दार्शनिकों ने 'सत्' की परिभाषा यह दी है, कि—'उत्पात-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्'

–जो उत्पात, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है–वह सत् है यानी जो उत्पन्न और नष्ट होता हुआ भी अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है–वह सत् है।

उत्पत्ति नाश और ध्रुवता–तीनो ही परस्पर विरोधी अवस्थाए हैं। एक ही पदार्थ मे, एक ही क्षण मे ये विरोधी अवस्थाए कैसे रह सकेंगी ? किन्तु जैन दार्शनिको का उद्घोष है, कि–लोकालोक मे ऐसा कोई भी पदार्थ नही है, कि–जिसमे प्रत्येक क्षण मे ये तीनो स्थितियाँ विद्यमान न हो। जिस समय मे पदार्थ पूर्व अवस्था त्याग करता है, उसी समय मे नई अवस्था उत्पन्न होती है और इस प्रकार उत्पात तथा व्यय होते हुए भी पदार्थ अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है। जैसे मिट्टी की पिण्ड रूप अवस्था नष्ट हुई और घट रूप अवस्था प्रकट हुई। किन्तु पिण्ड और घट अवस्था का आधारभूत द्रव्य मिट्टी दोनो ही अवस्था मे विद्यमान है। इस प्रकार जैन दृष्टि से–'अपने स्वभाव का परित्याग न करते हुए निरन्तर परिवर्तनशील' पदार्थ ही सत् है।

द्रव्य, गुण और पर्याय

उस पदार्थ को कहते हैं–द्रव्य। द्रव्य का लक्षण है–'सत्'। अर्थात् विभिन्न अवस्थाओ के गमनागमन से युक्त द्रव्य है। दूसरे शब्दो मे कहें तो गुण और पर्याय से युक्त द्रव्य है–'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्'। इसी उत्तराध्ययन सूत्र के १८ वें अध्ययन में कहा है—

'गुणाण मासओ दव्व'

–गुणो का आश्रय-स्थान द्रव्य है अर्थात् गुण (तथा पर्याय) के पिण्ड को द्रव्य कहते हैं। गुण किसे कहते हैं ?—

'एग दव्वस्सिया गुणा'

—द्रव्य के आश्रित एकांश को गुण कहते हैं यानी सम्पूर्ण द्रव्य में उसकी सभी अवस्थाओ मे विद्यमान रहनेवाले अश को गुण कहते है। पर्याय किसे कहते हैं ?—

'लक्खण पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे'

—जो द्रव्य और गुण के आश्रित भाव हैं—अवस्थाएँ हैं, वे पर्याय हैं अर्थात् द्रव्य और गुण के परिणमन को पर्याय कहते हैं। प्रतिक्षण जो द्रव्य और गुण को अवस्थाएं होती हैं, वे पर्याय हैं। यह पर्याय का लक्षण है।

इन तीनो को समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण लें। जैसे मिर्च, अमुक आकार, अमुक रग, अमुक रस, अमुक गन्ध और अमुक स्पर्श का एक पिण्ड है—वह मिर्च है। अनेक गुणो का पिण्डीभूत पदार्थ मिर्च द्रव्य है। उसका वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये गुण हैं। उसका छोटा आकार बडा आकार या चूर्णाकार द्रव्याश्रित पर्यायें हैं और उसका हलका हरा, गहरा हरा या हलका लाल, गहरा लाल या पीला रग—वर्ण गुण की पर्यायें हैं, उसकी सुहानी या असुहानी गन्ध—गन्ध गुण को, मद या तीव्र तिक्तता—रस गुण की और कोमल या कर्कश आदि अवस्थाएं स्पर्श गुण की पर्यायें हैं। इस प्रक र हम इस निर्णय पर पहुंचेंगे, कि—पर्याय और गुण से शून्य किसी द्रव्य की स्थिति असम्भव है और इसी प्रकार द्रव्य से अलग न गुण ही सम्भव हैं। जब मिर्च पौधे पर थी, तब पहले-पहल वह छोटे आकार की थी तथा रग, रसादि कुछ और थे। फिर बडी हुई, रग हरा हुआ। जब पक गई तब रग लाल हो गया। फिर सूख गई, रग कुछ हलका हो गया और चूर्ण हो गया तो आकार आदि मे परिवर्तन हो गया। शाक आदि मे मिल गई तो रूप, रग, आकार सब बदल गये। मनुष्यो के पेट मे चली गई तो और भी परिवर्तन हो गया। किन्तु चाहे जितने रूपान्तर हो जाने पर उसके परमाणु द्रव्य और गुण नष्ट नहीं होते है। यो मिर्च स्वयं एकेन्द्रिय वनस्प-

तिकायिक जीवो से निर्मित्त होनेवाली पुद्गल की पर्याय विशेष है। अतः किसी भी अवस्था मे उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि उससे अलग नही होते हैं। आज का विज्ञान भी कहता है, कि--पदार्थ कभी भी नष्ट नही होते है। उनका रूपान्तर होता रहता है।

जैन दर्शन कहता है, कि--कोई भी द्रव्य ऐसा नही है, जो गुण से विहीन हो और ऐसा कोई द्रव्य और गुण नही है जो पर्याय से विहीन हो अर्थात् द्रव्य और गुण परिवर्तनशील हैं। भगवान् ने जीवादि द्रव्यो को परिणामी नित्य कहा है, जिसका आशय यही है कि--द्रव्य मे परिवर्तन होते हुए भी वे कदापि विनष्ट नही होते हैं। चाहे रूपी द्रव्य हो या अरूपी, मुक्त जीव हो या अमुक्त, परमाणु हो या स्कन्ध, उनमे पर्यायो का उत्पात और व्यय निरन्तर चलता रहता है।

क्या सिद्ध परमात्मा में भी परिवर्तन होता है ?

हाँ! सिद्ध भी जीव द्रव्य हैं और द्रव्य कभी पर्यायो से विहीन नहीं होता है। सिद्ध मे अनन्त गुण हैं और गुणो की पर्यायें भी उत्पन्न होकर नष्ट होती रहती हैं। अतः सिद्धों मे भी परिवर्तन होता है। आप कहेंगे, कि--हम तो अभी तक यह सुनते आये हैं, कि--सिद्ध अजन्मा हैं--अमर है। यह बात सत्य है, कि--सिद्ध न जन्म लेते हैं, न मरते हैं और यह बात भी सत्य है, कि--सिद्ध मे निरन्तर उत्पात व्यय चलता रहता है। एकरस कूटस्थ नित्य कोई पदार्थ नही है। परिणमन दो प्रकार का है--स्वभाव-परिणमन और विभाव-परिणमन एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के द्वारा होनेवाले परिवर्तन को वैभाविक परिणमन कहते हैं और दूसरे द्रव्य की सहायता के बिना या दूसरे द्रव्य के मिश्रण के अभाव मे होने वाले परिणमन को स्वाभाविक परिणमन कहते हैं। जन्म और मरण वैभाविक परिणमन है, वह सिद्धो मे नही है। किन्तु स्वाभाविक परिणमन सिद्धो में है।

अत उनमें उत्पाद और व्यय भी है—सूक्ष्मरूप से परिवर्तन भी है।
हमारी बुद्धि अभी अविकसित है और फिर उसपर ऐन्द्रियिक ज्ञान की खोल चढ़ी हुई है। अतः हमे अतीन्द्रिय बातें एक दम बुद्धिगम्य नही होती हैं।

देखो, आपने कोई मधुर और बढिया वस्तु देखी, किन्तु वह एक-दो दिन बाद सडी हुई दिखाई दी। अब विचार कीजिये, कि—क्या वह वस्तु दो दिन बाद एक दम माधुर्य से सडान्ध मे पहुच गई। हमारी इन्द्रियो ने उसके माधुर्य को जाना और सडान्ध को जाना, किन्तु उसके बीच मे प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन को नही जाना। प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन से ही वह माधुर्य से सडान्ध तक पहुची है—यह हमने बुद्धि से जाना। इस कथन का आशय है, कि—वैभाविक परिणमन के भी स्थूल रूप को हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। हम जन्म और मरण को स्थूल रूप से जानते हैं। किन्तु उस स्थूल जन्म और मरण के बीच मे असख्य बार होने वाले जन्म और मरणो को हमारी इन्द्रियाँ नही जानती हैं। हाँ! उनके माध्यम से होने वाले बचपन, यौवन, प्रौढता, वृद्धत्व आदि स्थूल परिणामो को जानती तो हैं, किन्तु मरणोत्तर जन्म और जन्मोत्तर मरण के रूप मे नही जानती है। हाँ! बुद्धि कल्पना के बल से वहाँ तक अवश्य पहुच जाती है।

सिद्ध भगवान के स्वाभाविक परिणमन की बात बुद्धि की पकड़ मे आना सहज नही है। ज्ञान गुण के परिणमन को हम कुछ समझ सकते हैं। जैसे दर्पण के सामने कोई व्यक्ति खडा होता है, तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण मे दिखाई देता है। प्रतिबिम्ब उस व्यक्ति का है, किन्तु उस व्यक्ति का पर्याय नही है। वह प्रतिबिम्ब उस दर्पण की ही पर्याय है—अवस्था है। वह व्यक्ति हँसता है आखें मटकाता है या मुँह बनाता है तो उस प्रतिबिम्ब मे भी वैसा ही परिवर्तन होता है। व्यक्ति का परिवर्तन व्यक्ति होता है और प्रतिबिम्ब का परिवर्तन दर्पण मे होता है। दर्पण प्रतिबिम्बमय है—यह उसकी

ही अवस्था है, अतः वह परिवर्तन दर्पण का ही परिवर्तन है। वैसे ही सिद्ध भगवान के ज्ञान मे लोकालोक प्रतिबिम्बित होते हैं। लोकालोक के वर्तमान काल की पर्यायें अतीत हो जाती हैं और भविष्य की पर्यायें वर्तमान होती हैं। द्रव्य और गुण का त्रैकालिक पर्याय-परिवतन उनके ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होता है। वे प्रतिबिम्ब उनके ज्ञान की ही अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार हम कल्पना कर सकते है, कि—यह पर्यायान्तर उनके ज्ञान गुण का ही परिणमन है। अन्य गुणो का परिणमन हमारी बुद्धि की पकड मे आना सहज नही है। आज आपको लगता होगा, कि—मूल विषय पर मैं अभी तक नही आया हू—विषयान्तर हो गया है। परतु यह जानकारी देना भी कुछ आवश्यक लगा। लो, अब मूल विषय भी आ गया है। कल प्रमाण के विषय मे चर्चा की थी। प्रमाण अर्थात् असदिग्ध ज्ञान और ज्ञान किसे कहते है ?—इस प्रश्न का उत्तर अभी किये गये वर्णन से निकाल सकते है यानी द्रव्य, गुण और पर्यायों की जानकारी को ज्ञान कहते हैं। 'केशि' महाराज के लिये सूत्रकार महर्षि ने कहा—

'ओहिनाण सुए बुद्धे'

—इस सूत्राश के अर्थ को विशद करते हुए, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणो की चर्चा हो चुकी है। यहाँ तक उनके आत्मिक गुणो का वर्णन हुआ। अब उनकी सयोगिक अवस्था का वर्णन आता है।

क्या ज्ञानी टोला बनाते हैं ?

'सीस-सघ-समाउले'

अर्थात् शिष्य सघसे घिरे हुए या शिष्य-सघ के साथ।

इस पद से यह प्रश्न उठता है, कि—क्या ज्ञानियो को भी शिष्य बनाने की आवश्यकता है ? क्या ज्ञानी भी अपनी टोली कायम करते है ? जो

सच्चे ज्ञानी हैं, उन्हें अपना बढप्पन बताने के लिये शिष्यो की कोई अपेक्षा नही है और दबदबा बढाने के लिए न किसी सगठन, टोली या किसी सघ की ही अपेक्षा है। जिसे जिज्ञासा होती है, वह स्वय गुरु को खोजते हुए आता है और ज्ञानी उसे शिष्य रूप मे स्वीकार करते हैं केवल भाव-अनुकपा से प्रेरित होकर, उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिए ही। ज्ञानी शिष्य की खोज मे नही जाते, किन्तु योग्य पात्र हो और विषय-पक से निकल न पाता हो तो उसे सहयोग देने, उन्हे योग्य लगता हो तो अवश्य जाते हैं। यो तो वे अक्खा भगत के शब्दो इस प्रकार समझते हैं कि—

'देहाभिमान हतुं पाशेर
विद्या भणता वाध्यु शेर।
गुरु थयो त्यां मणमा गयो'

—देहाभिमान पाव भर था। कुछ विद्या पढली तो वह अभिमान सेर भर हो गया अर्थात् अभिमान चौगुना बढ गया। फिर शिष्य हुए तो वह गुरु बन गया। गुरु बनने पर अभिमान मनभर-चालीस सेर अर्थात् चालीस गुना हो गया। साधना करने के लिए चला हुआ साधक यों हलके से भारी बनता जाता है और आत्मभान से शून्य हो जाता है।

ऐसी विकृति कहाँ होती है?—जिसमे गुरु बनने का चाव हो—शिष्य-लिप्सा हो और जो यश की चाह मे गले तक डुबा हुआ हो वह व्यक्ति ऐसे अनिष्ट का शिकार हो जाता है। उसे अपना टोला बढाने की धुन सवार होती है। किन्तु सच्चा ज्ञानी इन विकृतियो से सावधान रहता है।

यद्यपि ज्ञानी भी साधको को शिष्य रूप मे स्वीकार करते हैं। किन्तु शिष्य की स्वीकृति मे उनके भाव कुछ और होते हैं। वे शिष्य-सघ साथ रहते हैं, किन्तु उस समुदाय के सयोजन मे उनका उद्देश्य कुछ और होता है। वे शिष्यो की सारसम्हाल भी करते हैं और सघ की व्यवस्था भी

करते हैं, किन्तु उन सब कार्यो मे उनकी उदासीन वृत्ति बराबर स्थिर रहती है।

आप में और हम मे क्या अन्तर ?

एक राजा ने एक अध्यात्म योगी सन्त से कहा— महाराज ! दुनियाँ आपको भी महाराज कहती है और हमको भी महाराज कहती है। हमारे कुटुम्ब-परिवार हैं तो आपके भी चेले हैं । हमारे धन-वैभव का परिग्रह है तो आपके भी शास्त्र आदि उपकरण हैं । जैसे हमे धनादि के विषय मे विनष्ट होने आदि की चिन्ता होती है तो वैसी ही आपके अपने उपकरणो के विषय में भी चिन्ता होती है। तो फिर आप मे और हममे क्या अन्तर है ?

सन्त मुस्करा दिये। उन्होने कुछ उत्तर नही दिया।

सन्त ने बात को अन्य विषय की ओर मोड दी। इतने मे किसीने आकर सूचना दी, कि—'महल मे आग लग गई है ।' राजा आकुल-व्याकुल हो गया। वह वहाँ से वन्दना किये बिना ही उठकर चल दिया । राजा महल मे पहुंचा। वहाँ देखा तो ऐसी कोई खास बात नही थी। रसोईघर मे कुछ असावधानी से लपटें कुछ ऊँची उठ गई थी । स्थिति शात थी और कुछ हानि नही हुई थी। वह हँसता हुआ पुनः सन्त के पास आ बैठा। कुछ देर बाद एक दूत ने आकर सूचना दी, कि—जो कीमती जहाज बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर आ रहे थे, वे समुद्र मे डूब गये । राजा का मन तत्वचर्चा से उचट गया। उसके मुख पर विषाद की रेखाएँ खिच गई। मन विचार के वात-चक्र मे फँस गया। इतने मे दूसरे दूत ने आकर सूचना दी—'खिवैयो ने जहाजो को बडी कुशलता से डूबने से बचा लिए हैं और अब जहाज तट पर लगने ही वाले हैं।' राजा का शोक छिन्न हो गया। हृदय प्रसन्नता मे भर गया और मुख पर भी चमक आ गई। इतने मे कुछ सन्त आये। उन्होने

कहा—'भन्ते ! आपके अन्तेवासी ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है। उनका सथारा सिद्ध हो गया है।' सन्त ने कहा—'धन्य है उन्हे।' कुछ देर बाद अन्य सन्त आये—उन्होने अनशनादि तपश्चरण की अनुज्ञा मागी। सन्त ने उनकी योग्यता के अनुसार आज्ञा प्रदान की।

फिर सन्त ने राजा की ओर देखकर, कहा—'राजन् ! आपके प्रश्न का उत्तर क्या मिल गया?' राजा ने पूछा—'भन्ते ! कौनसे प्रश्न का उत्तर?' राजा अपना प्रश्न भूल गया था। सन्त ने कहा—'अभी आपने पूछा था न, कि—आपमे और हममे क्या अन्तर?' राजा बोला—'हाँ ! भन्ते ! पर आपने उसका उत्तर कब फरमाया?'

मुनि बोले—'राजन् ! इस प्रश्न का उत्तर, इतनी देर मे जो हमारी-तुम्हारी चर्चा हुई, उससे ही मिल जाता है। जब महल मे आग लगने के समाचार सुने तब तुम कितने व्याकुल हो गये थे। अपना भान भूल गये थे। तुम ऐसे भागे, कि—मानों तुम अभी आग बुझा दोगे। जब जहाज डूबने के समाचार तुमने सुने तब तुम्हे कितनी वेदना हुई? क्या कुछ जहाजो के डूब जाने से तुम्हे जीवन-निर्वाह करना दूभर हो जाता? फिर जब तुमने जहाजो के सुरक्षित तट पर लगने के समाचार सुने तब तुम कितने हर्षमग्न हो गये? अब राजन् ! हमारी ओर देखो ! हमारे धर्म-उपकरण उपकरण मात्र हैं—परिग्रह नही। अतः उनकी सार-सम्हाल करते हुए भी हमें न उनमे आसक्ति होती है और न उन्हे सग्रह करने की वृत्ति होती है और मेरे शिष्य साधक हैं—सम्बन्धी नही। मैं उन्हे साधना में सहयोग देता हू। मेरा और इनका साधना के नाते ही सम्बन्ध है। तुम्हे और मुझे लोग महाराज कहते हैं तो महाराज-महाराज में कितना अन्तर है?—यह अब स्वयं ही सोच लो!'

राजा यह सुनकर नतमस्तक हो गया।

क्या ज्ञानी को राग होता ही नहीं है ?

ज्ञानी के दो प्रकार हैं-एक वीतराग और दूसरे सराग। वीतराग ज्ञानी रागातीत होते हैं, उनमे राग लेश मात्र नही होता है और सराग ज्ञानी के दो भेद हैं—अप्रमत्त और प्रमत्त। अप्रमत्त के मोहोदय होने पर भी उनकी रागादि परिणतियाँ अति सूक्ष्म होती हैं। प्रमत्त ज्ञानियो के तीन भेद हैं—अविरत, देशविरत और सर्वविरत। इनमे मोहोदय की उत्तरोत्तर अल्पता रहती है। इनमे सामान्य ससारी जीवो की अपेक्षा राग अल्प, अल्पतर और अल्पतम होता है। अविरत और देशविरत तो गृही हैं। अतः सम्बन्धो के बीच रहते हुए ममता के बन्धन होना सहज है। किन्तु उनकी ज्ञानदशा उन्हे इन सम्बन्धो मे डूबने नही देती है और सर्वविरत ज्ञानी प्रमाद का जोर होने पर राग के वशीभूत हो जाता है। उनमे अन्य राग के हेतु के प्राबल्य का अभाव हो जाता है। किन्तु धर्म के अवलम्बनादि हेतु से राग उन्हे अपने वश मे कर लेता है। जैसा, कि—श्री गौतम गणधर को श्रमण भगवान् महावीर देव के प्रति राग था। पर योग्य समय मे वह राग क्षीण हो गया। भले ही वह राग प्रबल दिखाई देता हो, किन्तु होता है—वह पतला ही।

साधक संघ रूप में क्यो रहते हैं ?

जब यह जानते हैं, कि—समुदाय मे रहते हुए कुछ-न-कुछ ममता के बन्धन लग जाते हैं तो फिर साधक साथ-साथ क्यो रहते हैं ? अकेले क्यो नही रहते है ? सिंह क्या कभी टोली बनाकर रहता है ?—नही। तो साधक को भी सिंह वृत्ति अपनाना चाहिए। उसे एकाकी ही विचरण करना चाहिए। यह बात, यो ठीक लगती है। किन्तु जरा गहराई से सोचिए। इस बात मे भ्रांति दिखाई देगी। हमे यह न भूलना चाहिए, कि—अभी साधक साधक हैं, सिद्ध नही। अपरिपक्व मति के बिना अकेलापन साधना से भ्रष्ट

कर सकता है। साधक में प्राय: सब मानवीय दुर्बलताए होती हैं। उनके कर्मो का उदय निमित्त पाकर प्रबल भी हो सकता है। ऐसे समय मे एक साधक दूसरे साधक को सहायक हो सकता है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुर्बलताओ मे अन्य के सहयोग की आवश्यकता रहती है—इसमें तिल भर भी सन्देह नही है। जब साधु अकेला हो और शारीरिक कष्ट आयें तो कष्ट-सहिष्णुता न होने पर उसे गृही का आश्रय लेना पडता है और गृही का आश्रय लेने पर क्या सयम मे मलिनता नही आएगी ? कुछ व्यक्तियो का मानसिक और आत्मिक स्तर इतना दृढ होता है, कि—यदि वे भले हैं तो उन पर बुरे व्यक्तियो की और यदि वे बुरे हैं तो भले व्यक्तियो की संगति का अशमात्र भी असर नही होता है। ऐसे व्यक्तियो के लिए भले ही सघ की विशेष उपयोगिता न हो, किन्तु संसार मे ऐसे व्यक्ति बहुत हैं, जो अच्छी सगति पाकर सुधर जाते है और बुरी सगति पाकर बिगड जाते हैं, ऐसे व्यक्तियो के लिए सघ की बहुत अधिक उपयोगिता है।

एक साधक को माता की शिक्षा

एक राजकुमार माता के पास साधना-पथ पर चलने के लिए अनुज्ञा मांगने आया। माता ने उसकी ओर देखा। उसने राजकुमार के भावो की गहराई को नापा। उसे लगा, कि—राजकुमार वैराग्य के रग मे पक्का रग गया है। माता सोचने लगी—यह परमार्थ-पथ पर जा रहा है। उस मार्ग पर जाने की आज्ञा चाहता है। क्या मैं आज्ञा दे दूं ? फिर मेरा क्या होगा ? मेरा एकाएकी लाल चला जाएगा तो मुझे कौन पूछेगा ? क्या मैं इतनी क्षुद्र है ? अपने स्वार्थ के लिए अन्य का परमार्थ बिगाडूं ? क्या यही मेरा कर्त्तव्य है ? पहले मदालसा जैसी माताएँ हो गई हैं। जिनने लोरियो मे ही बच्चों को तत्वज्ञान का अमृत पिला दिया। उन्होने बच्चो का पालन-पोषण ही इस ढग से किया, कि—वे परमार्थ-पथ के पथिक बने। एक मैं हूं,

जो जागृत हुआ है उसे सुलाना चाहती हू। क्या मेरा यही कर्तव्य है? नही, मेरा तो यह कर्तव्य है, कि—इसे ऐसी शिक्षा दूँ, जिससे इसके जन्म-मरण घटे। यह पुनः गर्भ के दुखो को न उठाए।' राजरानी ने, जिसके सामने राजमाता बनने का प्रलोभन था, अपने विचारो को दृढ बनाया। कितनी मिलेंगी ऐसी माताएँ?

उसने राजकुमार से कहा—'पुत्र! तुम परमार्थ के मार्ग पर चलना चाहते हो। मैं प्रसन्न हू। मोह मुझे सता रहा है। किन्तु मैं तुम्हे नही रोकूँगी। जाओ और अपने सुदृढ चरण साधना के मार्ग पर बढाओ। मेरा आशीर्वाद है। मैं मगल कामना करती हू, कि—तुम अपने ध्येय को जल्दी प्राप्त करो। बेटा! तुम विज्ञ हो, चतुर हो, मैं तुम्हें क्या ज्ञान दू! पर, माता का मन है। कुछ शिक्षा के बोल कहती हू। यदि तम्हे उपयोगी लगे तो हृदय मे धारण करके रखना और यथा-समय उनका उपयोग करना।'

राजकुमार सहर्ष विनय से प्रणाम करके बोला—'माँ! तुम्हे धन्य है। तुमने मेरी साधना का मार्ग सरल बना दिया—आज्ञा प्रदान करके। अब आप मुझे शिक्षा के अनमोल रत्न दे रही हैं। जिन्हे मैं साधना मे यथासमय उपयोग मे लेकर, मैं कृतार्थ हो जाऊंगा। अम्ब! कृपा करो! अमृत का दान दो!'

माता गद्गद होकर बोली—'वत्स! तुम राजकुमार हो तो राजकुमार के गौरव को जीवन मे कायम रखना। तुम फीका भोजन मत करना, सदा मीठा भोजन करना। तुच्छ शय्या पर मत सोना, कि-जिस पर गाढी निद्रा न आये। लेकिन ऐसी उत्तम गुदगुदी शय्या पर सोना, कि—सोते ही गहरी नींद लग जाये। अगरक्षक-पहरेदार सदा साथ रखना हमेशा किले मे रहना। इतनी बातो का यदि तुम ध्यान रखते हुए पालन करोगे तो एक दिन तुम्हारी साधना अवश्य सिद्धि मे बदल जाएगी।'

राजकुमार ने प्रसन्नता के साथ माता की बात को बधाते हुए कहा–'माँ! आपने बहुत ही उत्तम शिक्षाए दी–मुझे। परन्तु हे माँ! मैं आपके मुह से ही इन शिक्षाओ का रहस्य सुनना चाहता हू। आप मुझ पर अनुग्रह करें!'

पहली शिक्षा का रहस्य माता ने बतलाया, कि–भूख लगने पर ही भोजन करना। भूख न हो तो मधुर भोजन भी स्वाद-हीन लगता है। बिना भूख से किया हुआ भोजन देह मे अनेक विकारो को उत्पन्न करता है। रोगो की उत्पत्ति करता है। इन्द्रिय-लोलुपता और कामुकता की वृद्धि करता है। परन्तु इसका यह मतलब नही है कि–दिन मे या रात मे कभी भी भोजन कर लेना। इस शिक्षा का उद्देश्य यही है, कि भोजन के बाद दूसरी बार के भोजन मे काफी समय का अन्तर रखना, जीवन मे तपश्चरण को स्थान देना और ठूस-ठूसकर भोजन नही करना। अर्थात् भोजन को साधना के लिए या जीवन के लिए अनिवार्य अवलम्बन रूप मे ही स्वीकार करना चाहिए। जब खाये बिना न चल सकता हो तब खाना।

दूसरी शिक्षा मे निद्रा के नियम के विषय मे बात्र कही गई। माता ने इस शिक्षा का रहस्य इस प्रकार खोला। नीन्द छद्मस्थ जीवो के लिए आवश्यक हो जाती है। किन्तु निद्रा आवश्यक हो तो ही लेना। निद्रा के लिए शय्या पर पड़े-पड़े प्रतीक्षा नही करना। किन्तु साधना करते हुए निद्रा सता रही हो तो उसका निवारण करना। उस समय आँगन पर सोने पर भी गुदगुदी शय्या पर शयन से भी अधिक गाढी नीद आती है और जीव कुस्वप्नो से बच जाता है। सादे और निष्पाप जीवन जीनेवाले ही सुख की नीद सो सकते हैं। गुजराती लोकोक्ति है—

'जेनी खादा-खोराकी सादी।
तेने मळे सवा मणनी गादी॥
जेने व्हालु शृगार। तेमा क्यारेक उठे अगार॥'

जिनका रहन सहन, खान-पान और जीवन-व्यवहार सादा और सरल है, उसे सोने को सवा मण रूई की गादी मिलती है अर्थात् वह सुख की नींद सोता है। क्योंकि उसे कोई दुश्चिन्ताएं नही सताती हैं और उत्तेजना का उसके जीवन मे अवकाश ही नही रहता है। अत: वह जमीन पर या दरी पर भी आनन्द के साथ शयन करता है और जिसे श्रृंगार प्यारा है, उसके हृदय मे अंगार उठेंगे ही। अत्यधिक परिग्रही जीवन, जीवन मे प्राकृतिक नियमो का उल्लंघन, अत्यधिक कामुकता, विलासिता और गलत रीति-नीति से युक्त व्यवहार सुखमय निद्रा के शत्रु हैं। ऐसे व्यक्तियो के मन के कांटे शय्या मे भर जाते हैं। इस दूसरी शिक्षा मे राजमाता ने यही संकेत किया, कि-तू साधना में बिलकुल संलग्न रहना और निद्रा की तू प्रतीक्षा मत करना, लेकिन निद्रा जब स्वयं ही तुझे वरण करे तभी उसे मान देना।

तीसरी शिक्षा का मर्म माता ने यों खोला, कि-साधना के मार्ग मे अनेक लुटेरे-काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय आदि भयंकर डाकू साधकों के आत्मधन को लूटने की ताक मे रहते हैं। अत: विवेक रूपी अंगरक्षक सदा साथ मे रखना। विवेक का पहरा अपने पर लगाये रखना।

चौथी शिक्षा का आशय है, कि-सदा उत्तम साधुओ की संगति रूपी किले मे रहना। जैसे सुदृढ किले मे स्थित मनुष्यो पर शत्रु सेना का वश नही चल सकता है और उन्हे मुंह की खाकर लौटना पड़ता है, इसी प्रकार साधु के संग मे रहते हुए अनेक पापो से बचाव होता है। अकेले इधर-उधर भ्रमण मत करना। ज्ञान और सत्क्रिया के दृढ़ हुए बिना अकेले विचरण करना, भयंकर पतन को आमन्त्रण देना है।

राजकुमार माता की शिक्षाओ का रहस्य सुनकर बडा प्रसन्न हुआ और प्रणाम करके, साधना के लिए चल पड़ा।

संघ की रचना क्यो होती है ?

इस कथा-प्रसग से यह स्पष्ट हो जाता है, कि—साधुओ को संघ रूप मे विचरने की आज्ञा क्यो दी गई है। साधना-पथ पर चलने की प्रतिज्ञा ले लेने मात्र से विकार नि शेष नही हो जाते हैं। विकारो से प्रतिपल युद्ध करने का नाम ही साधक-जीवन है। साधक सावधान होकर, उन विकारों को अपनी आत्मबल से युक्त साधना के द्वारा जीतने का प्रयत्न करता है। किन्तु कर्म का उदय कभी-कभी उसे सभी आत्म-शस्त्रो से विहीन कर देता है। ऐसे समय मे यदि विकारो के प्रेरक या उत्तेजक निमित्त मिल जाते हैं और उन विकारो के कार्य मे कोई बाधक कारण न हो तो वे भान साधक निर्बाध गति से पतन के गर्त मे गिर जाता है। यदि ऐसे समय मे उत्तम साधको का सग हो तो वह संग उसकी सुरक्षा का हेतु बन जाता है। इसीलिए आज के अल्प सत्ववाले साधुओ के लिए भगवान् ने अकेले विचरने का निषेध किया है। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता है, कि—पाप कार्यो को करने और सुरक्षित रहने के लिए भी सगठन बनते है—गुप्त सघ बनते हैं। ऐसे संगठन पहले भी थे और वर्तमान मे भी हैं। साधु-सघ मे भी जब शैथिल्य व्याप्त होता है, तब साधक-सगठन भी दूषण का पोषक अभेद्य दुर्ग बन जाता है। परन्तु इन सब खतरो के होते हुए भी उत्तम सघ रूपी किले का महत्व कम नही होता है। वरन् संगति के गुण-दोष की प्रेषकता और सरक्षकता का महत्व ही प्रतिपादित होता है।

गुरु की दृष्टि और साधना

साधक एक-दूसरे की दृष्टि मे रहते हैं तो उनकी साधना सुरक्षित रहती है। यदि साधक गुरु की दृष्टि मे रहता है तो साधना परिपक्व होती है। जैसे कछुआ अपनी दृष्टि से ही अडो का सेवन करता है, उसी प्रकार गुरु भी अपनी दृष्टि से साधक के गुणो को पुष्ट करते हैं। ऐसे साधक होंसे

पधारे । अब इस विषय मे आगे क्या वर्णन आता है—यह आपको श्रवण करने पर विदित होगा ।

साधना और शक्ति

श्रमण भगवान महावीर देव ने भव्य जीवों के हितार्थ धर्म-मार्ग की देशना दी । भगवान ने साधना का मार्ग बतलाया और आत्म-साधना की अनेक जीवो को प्रेरणा दी । भगवान ने साधको पचाचार की बाते बतलाई । पाँचवाँ आचार है-वीर्या-चार । वीर्य अर्थात् आत्म शक्ति । वीर्य के बिना साधक साधना नही कर सकता है । वीर्य के विकास की प्रक्रिया को वीर्या-चार कहते हैं । भगवान ने आत्म-शक्ति के विकास की साधना भी बतलाई है ।

वीर्याचार की साधना का साराश यह है, कि—साधक को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना करते रहना चाहिए । शक्ति से अधिक कार्य करना भी योग्य नहीं है तो 'शक्ति नही है'—यह बहाना बनाकर, साधना का कुछ भी कार्य नही करना भी योग्य नही है । शक्ति का अपव्यय शक्ति की रीढ़ तोड देता है, शक्ति का अत्यधिक व्यय साधना को भग कर देता है तो शक्ति का किंचित् भी उपयोग न करना, शक्ति को ही विनष्ट कर डालता है । इसलिए साधना-पथ मे 'यथाशक्ति धर्म मे उद्यम' का—अभ्यास का बहुत अधिक महत्व है । उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन मे यही विषय चल रहा हैं । आर्य केशिकुमार श्रमण साधना के पथ पर चल रहे थे । वे और शिष्य-समुदाय यथाशक्ति धर्म मे उद्यम करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे—

गामाणुगाम रीयते, सावत्थिपुरमागए

—वे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, श्रावस्ती मे पधारे

चरण-विहार

वे अपने शिष्य-समुदाय से युक्त थे। वे परोक्ष एवं प्रत्यक्ष वस्तुतत्व के ज्ञाता थे। वे एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर मे विहार कर रहे थे। श्रावस्ती नगरी उस काल मे प्रसिद्ध नगरियो मे से एक थी। वहाँ की समृद्धि बढी-चढी थी। वह व्यापार का केन्द्र थी। अनेक कुशल व्यापारी वहाँ निवास करते थे। उसमे अनेक धर्मों के अनुयायी रहते थे। वहाँ तीर्थंकरो के उपासक भी बहुत थे। भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी और भगवान महावीर के अनुयायी भी वहाँ रहते थे। 'केशि' महाराज उस नगरी में पधारे।

क्या वे रथ मे बैठकर, या अन्य किसी वाहन मे बैठकर विचरण करते थे? या पैदल ही चलते थे? वे श्रमण थे और श्रमणो के लिए चरण-विहार का विधान है। जैन-श्रमणो के लिए किसी भी वाहन का उपयोग करना निषिद्ध है। अतः वे चरण से ही विचरण करते थे। चरण-विहारी ही ग्रामानुग्राम—सही अर्थो मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण कर सकते हैं।

साधु विहार क्यों करते हैं?

वे पाद-विहारी थे। एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण करते थे। जब वे वाहन का उपयोग नही करते थे, तो फिर क्यो इतना कष्ट उठाते थे? क्यो विचरण करते थे? एक जगह आश्रम बनाकर क्यो नही बैठ गये? इन प्रश्नो का उत्तर आपको यह चिर-परिचीत दोहा देगा—

बहता पानी निर्मला, बँधा गँदेला होय।
साधु तो रमता भला, दोष न लागे कोय॥

हैं अवश्य, कि–जिन्हे गुरु के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता नही रहती है। लेकिन ऐसे साधक अल्प ही होते हैं और जो ऐसे अल्प साधक होते हैं, उनमे भी कइयो ने पूर्व भव मे गुरु-चरणो की उपासना करके, विशिष्ट ज्ञान सम्पादन किया हो–ऐसे जीव होते हैं। अत. गुरु-शिष्य की परम्परा सामान्य वलवाले साधको के लिए वल-वृद्धि का हेतु वनती है और ज्ञानियो के द्वारा शिष्यो की स्वीकृति मे उनके आत्मबल की वृद्धि और पोषण करने का ही हेतु रहता है। जो केवल शिष्य-लिप्सा से चेले मूँडते हैं, उन्हे साधको की योग्यता-अयोग्यता का ध्यान नही रहता है। वे अपने शिष्यो की सख्या वढाने के लोभ मे ऐसे व्यक्तियो को दीक्षित कर देते हैं, कि–जिनके द्वारा सघ को और उन्हे स्वय को भी वहुत-कुछ सहन करना पड़ता है। यहाँ ऐमे गुरुओ की बात नही चल रही है। उन ज्ञाती गुरुओ की वात क्या कहे, कि–जिनके भक्त उनके शिष्य-शिष्याओ की वृद्धि के लिए, अर्थ-प्रदानादि के सिवाय अन्य भी विचित्र उपाय करते हैं? यहाँ तो विषय चल रहा है, उन सच्चे ज्ञानियो का, कि–जो सचमुच मे साधक के लिए प्रकाश स्तंभ का कार्य करते हैं। ऐसे भी साधक विद्यमान हैं, जो शिष्यो को स्वीकार ही नही करते हैं। भूतकाल में भी प्रत्येक बुद्ध, जिनकल्पी आदि उत्कृष्ट त्यागी साधक हुए हैं, जो उपदेश-दान का कार्य प्रायः नही करते थे। किन्तु सभी ज्ञानी साधक ऐसा ही करने लग जायँ तो अल्प सत्ववाले साधक कहाँ जाए गे? इसलिए स्थविर कल्प मे स्थित ज्ञानी साधक शिष्यो को स्वीकार करते आये है। वे परम करुणा की दृष्टि से देखते हैं, कि–यदि मैं उपेक्षा करूगा तो इस साधक मे आत्म-साधना का अकुर जो फूटा है, वह उचित सिन्चन के अभाव मे सूख जाएगा। वे इसी दृष्टि से ही–साधना मे सहयोग देने के लिए ही–शिष्यो को दीक्षित करते हैं।

महाराज केशि' कुमार श्रमण भी इसी कोटि के ज्ञानी गुरु थे। अतः उन्होने शिष्यो को आध्यात्मिक अवलम्बन देने का ही ध्येय रखा था। यह

बात सूत्रों मे वर्णित आगे की घटनाओ से सिद्ध होती है। यद्यपि उनकी शिष्य-सख्या बड़ी थी, तदपि गुरु की शुद्ध दृष्टि ने योग्य शिष्यो का ही सग्रह किया था। वे शिष्यो को उचित सहयोग देते रहते थे। उचित इसलिए कहा, कि–किसी समय मे साधक को सहयोग देना आवश्यक हो जाता है तो किसी समय मे अनावश्यक। जब सहयोग देना अनावश्यक होता है और उस समय में बिना समझे ही सहयोग देने की प्रवृत्ति होती है तो साधक का आत्मबल गिर जाता है। परन्तु 'केशि' महाराज सहयोग देने की कला मे दक्ष थे। वे साधक की शक्ति का का स्वयं मे विकाश हो-इसी रूप मे साधुओं को सहयोग देते थे।

क्या सघ कमजोरो का होता है?

इस वर्णन से यह बात सामने आती है, कि–संघ समुदायों की रचना व्यक्तियों की दुर्बलता के कारण होती है–क्या यह बात सत्य है?–श्रमण भगवान् महावीरदेव ने छद्मस्थ अवस्था में साधनाकाल मे एक मुहूर्त मात्र के निद्राकाल मे दश स्वप्न देखे थे। जिनमें एक स्वप्न मे श्वेत गायो का समूह देखा था। जिसका फल-कथन यो किया है, कि–भगवान् वे उस स्वप्न के फल स्वरूप चतुर्विध तीर्थरूप सघ की स्थापना की। इस स्वप्न का यह आशय हुआ कि–साधक गायो के समान है। जैसे गायो के लिए सरक्षण, पालन-पोषण और व्यवस्थित प्रबन्ध की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार साधको को भी सरक्षण आदि की आवश्यकता रहती है। सघ मे सरक्षण देने और लेने वाले दोनो होते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं, कि यद्यपि सघ-निर्माता सबल होते हैं, तदपि सघ का निर्माण साधक की दुर्बलताओ के कारण होता है, किन्तु साधक की दुर्बलताएं सघ मे प्रविष्ट होने पर सबलता मे परिवर्तित होती जाती हैं।

केशि महाराज भगवान् पार्श्वनाथ के तत्कालीन सघ के अग्रगण्य मुनि थे। वे अपने शिष्य-सघ के साथ विचरण करते हुए सावत्थी नगरी मे

पधारे । अब इस विषय मे आगे क्या वर्णन आता है–यह आपको श्रवण करने पर विदित होगा।

साधना और शक्ति

श्रमण भगवान महावीर देव ने भव्य जीवों के हितार्थ धर्म-मार्ग की देशना दी। भगवान ने साधना का मार्ग बतलाया और आत्म-साधना की अनेक जीवों को प्रेरणा दी। भगवान ने साधको पचाचार की बाते बतलाई। पांचवां आचार है-वीर्या-चार। वीर्य अर्थात् आत्म शक्ति। वीर्य के बिना साधक साधना नही कर सकता है। वीर्य के विकास की प्रक्रिया को वीर्या-चार कहते हैं। भगवान ने आत्म-शक्ति के विकास की साधना भी बतलाई है।

वीर्याचार की साधना का सारांश यह है, कि–साधक को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना करते रहना चाहिए। शक्ति से अधिक कार्य करना भी योग्य नहीं है तो 'शक्ति नही है'–यह बहाना बनाकर, साधना का कुछ भी कार्य नही करना भी योग्य नही है। शक्ति का अपव्यय शक्ति को तोड़ देता है, शक्ति का अत्यधिक व्यय साधना को भग कर देता है तो शक्ति का किंचित् भी उपयोग न करना, शक्ति को ही विनष्ट कर डालता है। इसलिए साधना-पथ मे 'यथाशक्ति धर्म मे उद्यम' का–अभ्यास का बहुत अधिक महत्व है। उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन मे यही विषय चल रहा हैं। आर्य केशिकुमार श्रमण साधना के पथ पर चल रहे थे। वे और शिष्य-समुदाय यथाशक्ति धर्म मे उद्यम करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे–

गामाणुगाम रीयते, सावत्थिपुरमागए

–वे ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, श्रावस्ती मे पधारे

चरण-विहार

वे अपने शिष्य-समुदाय से युक्त थे। वे परोक्ष एवं प्रत्यक्ष वस्तुतत्व के ज्ञाता थे। वे एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर मे विहार कर रहे थे। श्रावस्ती नगरी उस काल मे प्रसिद्ध नगरियो मे से एक थी। वहाँ की समृद्धि बढी-चढी थी। वह व्यापार का केन्द्र थी। अनेक कुशल व्यापारी वहाँ निवास करते थे। उसमे अनेक धर्मों के अनुयायी रहते थे। वहाँ तीर्थकरो के उपासक भी बहुत थे। भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी और भगवान महावीर के अनुयायी भी वहाँ रहते थे। 'केशि' महाराज उस नगरी में पधारे।

क्या वे रथ मे बैठकर, या अन्य किसी वाहन मे बैठकर विचरण करते थे? या पैदल ही चलते थे? वे श्रमण थे और श्रमणो के लिए चरण-विहार का विधान है। जैन-श्रमणो के लिए किसी भी वाहन का उपयोग करना निषिद्ध है। अतः वे चरण से ही विचरण करते थे। चरण-विहारी ही ग्रामानुग्राम—सही अर्थो मे एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण कर सकते हैं।

साधु विहार क्यों करते हैं?

वे पाद-विहारी थे। एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण करते थे। जब वे वाहन का उपयोग नही करते थे, तो फिर क्यो इतना कष्ट उठाते थे? क्यो विचरण करते थे? एक जगह आश्रम बनाकर क्यो नही बैठ गये? इन प्रश्नो का उत्तर आपको यह चिर-परिचीत दोहा देगा—

बहता पानी निर्मला, बँधा गँदेला होय।
साधु तो रमता भला, दोष न लागे कोय॥

बहता हुआ पानी निर्मल रहता है । वह ग्राम-नगर के पास होकर भी वहता है और मनुष्य उसमे नहाते-धोते भी है । फिर भी वहाव के कारण वह पानी गन्दा नही होता है। क्योकि उसमें गन्दगी क्रियाओ की अपेक्षा शुद्धि की प्रक्रिया विशेष वेग से चलती रहती हैं । किन्तु वही पानी किसी गड्डे में प्रवाह से रहित होकर वन्ध जाता है तो वह गन्दा होने लगता है । उसमें चलने वाली शुद्धि की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार साधु विहार करते हुए, चरित्र में निर्मल बना रहता है । विहार करते हुए जन-सम्पर्क में आते हुए भी वह स्थिरता के अभाव में आसक्ति में लीन नही हो पाता है। परिग्रहवृत्ति भी अल्प होती जाती है । एक स्थान मे स्थिर रहने से व्यक्ति में, पदार्थ आदि मे, निवास स्थान मे, सुख से व्यतीत होने वाले समय में और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श या राग-द्वेष आदि मे रुचि या प्रतिवद्धता उत्पन्न हो जाती है। अतः वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी चारो प्रकार की प्रतिवद्धता से घिर जाता है । किन्तु भगवान का आदेश है, कि—चारो प्रकार की प्रतिवद्धता को त्याग कर, साधु को अप्रतिवद्ध विहारी बनना चाहिए । जब तक शरीर सवल है, नीरोग है और सभी इन्द्रियो का वल विद्यमान है तबतक साधक को सतत विहार करते रहना चाहिए । उसी मे उसके सयम की सुरक्षा है ।

विहार करते हुए भी साधक विहार का उद्देश्य नही समझता है तो दोषो का शिकार हो जाता है । वह कष्ट-सहिष्णुता के अभाव मे या विशिष्ट क्षेत्रो मे पहुचने की लालसा के कारण और ज्यादा कष्टो का शिकार हो जाता है । वह छोटे और शॉतिमय क्षेत्रो की उपेक्षा कर देता है तो विहार का ध्येय मारा जाता है। सारे दिन चलते रहने से भी साधना मे विघ्न उत्पन्न होते हैं । विहार का उद्देश्य—प्रमुख लक्ष्य-संयम की सुरक्षा है । परन्तु जो विहार सयम भग करके होता है, चरित्र को दूषित बनाता है और आसक्ति की वृद्धि करता है, वह विहार प्रशस्त विहार नही है, वह तो क्षेत्र-

पर्यटन मात्र है या सुख-सुविधाओं के लिए किया जाने वाला व्यापार है अथवा साधक यश की चाह, शरीर के सुख, संस्था के चंदे या ऐसे ही किसी अन्य भौतिक हेतु से परिभ्रमण करता है तो वह भी विहार नहीं है—हटवाड़ा है।

साधु स्थिर-वास भी करते हैं

जब तक शरीर में शक्ति है—विहार के योग्य स्थिति है, तब-तक विहार करने का विधान है। किन्तु जब शरीर थक जाए तो साधक क्या करें ? जब चलने की शक्ति न रहे, जघांबल क्षीण हो जाय और विहार में संयम-पालन के बजाय संयम में विघात उत्पन्न होने लगे, तब भगवान ने साधक के लिए नियतवास—स्थिर-वास का विधान किया है। विहार किया जाता है तो संयम की आराधना लिए ही और विहार से आत्म विराधना और संयम विराधना होती हो तो एक स्थान पर निवास किया जाता है, वह भी संयम-आराधना के लिये ही। जैसे ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये, आहार की गवेषणा के लिए या यत्नपूर्वक मल-त्याग के लिये यत्नासहित चलना धर्म का हेतु है, वैसे ही स्वाध्याय-ध्यानादि के लिये यत्नपूर्वक स्थिर बैठना भी धर्म का हेतु है। चलने या बैठने में जिस किसी भी क्रिया से धर्म की साधना होती हो, वह क्रिया प्रशस्त है। किन्तु शरीर से सशक्त साधक के लिए स्वतन्त्र रूप से स्थिर-वास करने का विधान नहीं है। उसके लिए नियतवास दोषावह है। इससे विपरीत स्थविर के लिए जो स्थिर रहने में ही सुरक्षा प्रतीत होती हो तो उनके लिए स्थिर रहने में ही लाभ है। कहा है।

बन्धा जल भी निर्मला, जो वो ऊंडा होय।
साधु बैठा भी भला, जो के थेवर होय॥

कूप गहरा हो, उसमें जल के स्रोतों से जल की आय होती हो, ऐसी स्थिति में बन्धा हुआ पानी भी निर्मल रहता है। उसमें गन्दगी नहीं आ

सकती। इसी प्रकार जो साधु स्थविर हो गया है, उसे स्थिर रहने मे ही लाभ है। उसके स्थिर रहने से उसमे कोई भी दूषण उत्पन्न नही होते हैं। स्थविर तीन प्रकार के हैं–सूत्र स्थविर, चरित्रस्थविर और वय स्थविर। यहाँ वय स्थविर–वयोवृद्ध के विषय मे बात चल रही है। बधा हुआ पानी उथला होता है, उसमे क्रीडा करने के लिए बच्चे भी घुस जाते हैं–पशु भी घुस जाते हैं। उसमे कूडा-कर्कट भी गिरता रहता है। जिससे उसमे स्रोत हो तो वे भी बन्द हो जाते हैं। अत उस जल मे सडांध पैदा हो जाती है। किन्तु पानी कुएँ मे उडा हो तो जिसके पास साधन होगा वही वहाँ पहुचेगा और अपने प्रयोजन के अनुरूप ही प्राय. उसमे से जल निकालेगा। इसी प्रकार जो वय की वृद्धि के कारण और ज्ञान एव चरित्र की आराधना के द्वारा स्वभाव से गम्भीर, उत्सुकता से शून्य, उत्तेजना मे मुक्त और साधना मे लीन बनकर ज्ञान और चरित्र की साधना मे गहराई और वृद्धि वाले हो जाते हैं तो उनके पास साधना की वृत्ति वाले व्यक्ति ही आ पाएँगे–क्षुद्र वृत्ति वाले नही। ज्ञान और चरित्र मे परिपक्व वयोवृद्ध साधु एक स्थान पर स्थिर रहकर भी दोषो से मुक्त रहता है।

युवा साधु भी एक स्थान पर रह सकता है ?

वयोवृद्ध साधु स्थिरवास करें तो उन्हे अकेले ही छोड दें। क्योकि सशक्त साधु के एक स्थान पर स्थिर रहने का विधान नहीं। ऐसा कहनेवाले ने विधान की अधूरी बात ही जानी है–पूरी नही। वयोवृद्ध साधुओ को अकेला छोडना–धर्म के अनुकूल नही है। वृद्ध, ग्लान या रोगी साधुओ को अकेले छोडने से धर्म का उपहास होता है। अत. युवा साधुओ को भी उनकी सेवा मे उनके पास रुकना अनिवार्य बतलाया है। वयोवृद्ध स्थविरो की सेवा, उनके चरित्र के निर्दोष रूप मे पालन मे सहयोग देने और उनकी आत्मा को शान्ति पहुचाने मे साधक गुरु के ऋण से मुक्त हो सकता है। इस सेवा का भी बहुत बडा लाभ है। इसके सिवाय जो सेवा योग्य व्यक्ति

हैं, उनकी सेवा से जी चुराने पर साधक के चरित्र मे दूषण उत्पन्न होता है। तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाओ मे एक भावना है–'वृद्ध, ग्लान, रोगी, तपस्वी, नवदीक्षित, आचार्य और उपाध्याय महाराज की सविनय वैयावृत्य-सेवा करे।' यदि साधक सेवा के योग्य सयमियो की सेवा नही करता हैं तो उसके तीसरे महावृत मे दूषण लगता है। अतः स्थविर भगवन्तो की सेवा मे स्थित रहने से उसका चरित्र दूषित नही, किन्तु भूषित होता है।

सेवा भी आत्म-साधना है

क्या सेवा भी कोई साधना है?–हाँ, सेवा–ज्ञानी, ध्यानी और सयमीजनो की सेवा निर्जरा का हेतु है–वैयावृत्य नाम का आभ्यन्तर तप है। साधक को गुरु आदि की सेवा करते हुए, यही सोचना चाहिए, कि–मैं इनकी सेवा करता हूँ तो इन पर उपकार नही कर रहा हू, किन्तु ये मुझे अपनी सेवा का अवसर देकर, मुझपर अपार उपकार कर रहे हैं। मुझे अपनी आत्म साधना मे सहयोग दे रहे है। मैं इनकी सेवा कर रहा हूं तो अपने आत्म-हित के लिए कर रहा हूं। अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हू।

सेवा करनेवाले को अपनी उच्छृखल वृत्तियो पर अंकुश लगाने का सहज ही अवसर प्राप्त होता है। यदि वह प्रसन्न चित्त से सेवा मे जुटा रहता है तो उसकी चित्त-विशुद्धि भी बिना यत्न के होती रहती है। जो वैयावृत्य करते हुए, शुभ भाव अत्यधिक वृध्दि को प्राप्त हो जाता है तो तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन हो जाता है। सेवा करते-करते वह सेव्य की कोटि के कर्मों का सन्चय कर लेता है। और एक दिन वह आराध्यपद को प्राप्त कर लेता है।

आत्म-श्रेय या लाभ-दृष्टि से साधना सम्भव

जरा विषयान्तर हो गया है, पर कोई बात नही। आज का विषय साधु के विहार और स्थिरवास से सम्बन्धित है। उनमे स्थिरवास से सम्बन्धित सेवा का विषय भी आ गया। सेवा करना बहुत ही कठिन है। यो तो साधना मात्र कठिन है। जब व्यक्ति उपकार करने की वृत्ति से, या आत्म-लक्ष्य से शून्य बनकर साधना करता है तो उसे साधना बहुत भारी लगती है। सयमियो को विहार-स्थिर- वास दोनो मे ही कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यदि लक्ष्य का दृढ निश्चय नही हो तो साधना-मार्ग की कठिनाइयाँ साधक के मनोबल को तोड डालती हैं। उनके मनमे विचार होने लगता है, कि–यह मैंने वृथा आपत्ति को क्यो मोल ले ली। यह कहाँ की वैठ-वेगार मेरे पल्ले पड गई। इस प्रकार उसे साधना भारी पड़ने लगती है और वह धीरे-धीरे साधना से दूर होने लगता है।

इससे विपरीत अपने लक्ष्य को समझने और कर्तव्य-बोध से कितनी सहिष्णुता आ जाती है–यह वात हम श्रीरामचन्द्रजी के उदाहरण से समझ सकते हैं।

राम के राजतिलक की तैयारियाँ हो रही थी। अयोध्या के जन-जन और राजमहल के कण-कण मे आनन्द की लहरें उठ रही थी। किन्तु महारानी कैकेयी के मतिभ्रम से सहसा वज्रपात हुआ। जिन्हे राजतिलक दिया जा रहा था, उन्हे चौदह वर्ष के लिए वनवास का आदेश हो गया। जिसने सुना वही हतप्रभ रह गया। किन्तु राम के मन मे आह तक न उठी। क्या उनकी भुजा मे वल नहीं था? क्या प्रजा उनमें विमुख थी? क्या वे निसहाय थे? क्या उन्हे अपने अधिकार के लिए लडना याद नही था? आज के युग के सपूत से ऐसी स्थिति मे आप क्या आशा करते हैं? क्या वह चुप रहता है? क्या वह यो नही दहाड पडता है–'आप मेरा अधिकार हड़प रहे हैं? तुम कैसे मेरे पिता हो? तुम पिता हो या जनम-जनम के

वैरी ? मैं ऐसे ही अपने अधिकार हाथ से नहीं जाने दूंगा। भले मर-मिट्ंगा, परन्तु अपना हक नही छोडूंगा! न्यायालय बन्द थोड़े ही हो गये हैं।' किन्तु कैसे थे वे राम ? वनवास की आज्ञा सुनकर, उनका मुख तक म्लान नहीं हुआ। उन्होने यही सोचा, कि— पिता की आज्ञा सहर्ष स्वीकार करना चाहिए मुझे ? पिता मुझे राज्य-शासन दे रहे थे तो क्या मैं उसे नहीं लेता ? अब पिता और माता ने वनवास दिया तो यह क्यो न स्वीकार करू ? यह तो मुझे राज्य-ग्रहण से भी अधिक प्रसन्नता से स्वीकार करना चाहिए। वे राम चौदह वर्ष वन-वन मे फिरे—

चौदह बरस फिरे वन मे, न लोपा हुक्म दशरथ।
वही पितु-आज्ञा पालक राम, हमें अब याद आते हैं॥

प्राण-प्रिया पत्नी का वियोग सहन किया। भूख-प्यास के कष्ट सहे। प्रिय अनुज के वियोग मे विह्वल हो गये। अनेक कष्ट सहे। किन्तु उन विकट घड़ियो मे भी उस पुरुषोत्तम ने अपने पिता या माता के लिए एक भी उपालम्भ का शब्द न कहा और न कोसा ही—अपशब्द की तो बात ही दूर रही। कैसा उदात्त-चरित्र है—श्रीराम का। उन्होने यह उदात्तता कहाँ से पाई ? अपने कर्त्तव्यबोध से ? केवल कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि होती तो वह कर्त्तव्य-पालन का आवेश कुछ दिनो मे ठण्डा हो जाता। किन्तु उन्होने अति कष्ट मे भी न अन्य पर क्षोभ हुआ और न अपने आप पर ही। उन्हे कभी यह विचार ही नही हुआ, कि—मैंने जगल मे आकर गलती की! आदि से अन्त तक पिता और माता के प्रति वही आदर भाव। मनमे जरा भी ग्लानि नहीं। उन्होंने ऐसा समभाव कैसे बनाये रखा ? क्या उन्हे समभाव बनाये रखना पडा ? बनाये रखना तो प्रयत्न-साध्य है। किन्तु उनके मनमे वह भाव सहज ही बना रहा। यह भाव सहज कैसे हो गया ? उनके मन मे यह भाव रहे होगे, कि—पिता की आज्ञा का पालन करके मैं उऋण हो रहा हू।

मैं अपना ही हित कर रहा हूं। हृदय मे गहरे-गहरे ऐसे भाव हो, तभी इतनी स्थिरता आ सकती है—दृढता रह सकती है।

कुए से पानी भरा जाता है। उसमे से पानी भर-भर के लोग ले जाते हैं। परन्त कुए का पानी समाप्त नही होता है। वह कदाचित् अधिक पानी के व्यय हो जाने के कारण खाली भी हो जाता है, किन्तु थोडी देर बाद पुन. भर जाता है। क्योकि उसमे पानी की आव रहती है—जल का अनेक स्रोतो से आगमन होता रहता है। उसके स्रोत उसकी गहराई मे रहते है। अत. कुए मे जल बना रहता है। लेकिन टकी कितनी भी बड़ी हो, उसमे कितना भी पानी भरा हो, पर उसका पानी समाप्त हो जाता है। उसमे जलागम बाहर से होता है। उसमे पानी भरा जाएगा तभी पानी मिलेगा। जो आत्मलक्ष्य से—अपने हित की दृष्टि मे धर्म-साधना करता है, उसके भीतर से साधना का स्रोत फूटता है और जो आत्मलक्ष्य से रहित धर्म-साधना करता है, वह बहिर्मुख बन जाता है। उसकी साधना का स्रोत बाहर—भौतिक उपलब्धि या लोक-दृष्टि मे रहता है। पहला साधक कुए के समान है और दूसरा टकी के समान। पहले के लिए बाहर मे चाहे जितने विकट या विपरीत प्रसंग आए, तो भी साधना से विमुख नही होता, जब, कि—दूसरे के लिए बाहर की विपरीतता उसकी साधना की मौत ही बनकर आती है। अत. साधक अपने आत्मलक्ष्य को न भूले तो उसके लिए वय, सेवा आदि की दृष्टि से विहार और स्थिर-वास दोनो ही साधना के अग बन जाते है। बहिर्दृष्टि साधक को विहार मे होने वाले कष्टो के कारण विहार मे और जन-समुदाय की उपेक्षा के कारण स्थिर-वास मे भी अरति उत्पन्न हो जाती है।

लाभ की आशा हो तो व्यक्ति कष्ट भी सहन कर लेते हैं। आपको कोई सूई चुभाए तो आप खुश होगे कि नाराज? अरे! कोई अपनी ओर अगुली भी उठा दे तो मनुष्य को सहन नहीं होता है। फिर भला कोई

सूई चुभाना या चाकू लगाना कैसे सहन कर सकेगा। ऐसी स्थिति में प्रसन्न होने की बात ही कहाँ है—विग्रह पैदा नही हो जाएगा ? किन्तु मैं आपसे पूछूँ, कि—आप कभी सूई चुभाने वाले को या अग काटने वाले को पैसे देते हो या नही ? उसका उपकार मानते हो या नही ? आप समझ गये होगे, कि—मेरा सकेत किस ओर है ! हाँ ! डाक्टर से आप सूई लगवाने जाते हो या ऑपरेशन करवाने जाते हो तो वह क्या करता है ? सूई ही चुभाता है न ? आप यह सब सहन कर लेते हैं न ? क्यो सहन करते हैं ? लाभ की आशा है—इसीलिए न ? व्यक्ति हाट-बाजार में दुकाने लेकर जाते हैं। वहाँ धूप, भूख, प्यास आदि सहन करते हैं। क्यो ? लाभ की आशा से। लाभ की आशा हो तो व्यक्ति अपना रक्त भी दे देता है। गालियाँ, अपशब्द सहना तो सहज बात है। आशय यह है, कि—लाभ की आशा न हो तो मनुष्य को जरा-सा दुःख भी बहुत बडा लगता है और लाभ की आशा हो तो बडा से बडा कष्ट भी कष्ट नही लगता। सामायिक आदि धर्म-क्रिया करने में कष्ट मालूम पडता है—नीति-मर्यादा के मार्ग पर चलते हुए, कठिनाइयो का अनुभव होता है—इसका कारण आप समझ सकते हैं ! अधिकाश व्यक्ति आजकल कुल-परम्परा के कारण ही धर्म चरण करते हैं—धर्म के स्वरूप को समझकर, आत्मिक ध्येय और लाभ के हेतु से नही। अतः उन्हे धर्माचरण भारभूत लगता है और वे धर्म से ऊब जाते हैं।

आर्य केशिकुमार श्रमण और उनके शिष्य आत्मिक लक्ष्य और अनन्त आत्मसुख की उपलब्धि के लिए साधना-पथ पर चल रहे थे। अतः वे अरति, चर्या आदि परीसहो को जीतते हुए विचर रहे थे।

वाहन का उपयोग प्रमाद है

केशि महाराज ग्रामानुग्राम विहार कर रहे थे। ग्राम-अनुग्राम अर्थात् एक ग्राम के बाद दूसरे ग्राम—किसी ग्राम का अकारण त्याग न करते

हुए विचर रहे थे। आज ऐसी स्थिति नही है। किन्तु किसी समय मे साधु-संघ मे ऐसी पद्धति रही होगी। प्राचीन साहित्य मे कही-कही ऐसा उल्लेख है, कि—योग्य क्षेत्र की अकारण उपेक्षा करके साधु आगे बढ़ जाता तो वह प्रायश्चित का भागी बन जाता। यह बात चरणविहार मे ही ठीक लागू हो सकती है—वाहन-विहार मे नही।

साधु के लिए वाहन का उपयोग क्यो वर्जित है?—इसके अनेक कारण हो सकते हैं। प्रथम तो साधु के पहले महाव्रत मे ही दूषण लगता है। कोई-कोई कहते हैं, कि—पशु या मानव के द्वारा खीचे जाने वाले वाहन मे बैठने से उन जीवो को पीडा होती हैं, अत. हिंसा होती है—यह बात तो समझ मे आती है। लेकिन विद्युत्, ईंधन, आदि से चलनेवाले वाहन—कार, ट्रेन, वायुयान आदि मे क्या हिंसा होती है? ऐसा तर्क करनेवाले मुझे तो अज्ञ लगते है। उन यानो के द्वारा भी प्रत्यक्ष ही त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा होती है। पुन वे तर्क दे सकते हैं, कि—यो तो चरण से चलते हुए भी हिंसा होती है। पर यहाँ भी वे भूलते हैं, कि—पैदल चलने वाला सावधानी रख सकता है, किन्तु वाहन-विहारी नही। पैदल चलनेवालो की अपेक्षा साइकल से चलनेवाला ज्यादा परावलम्बी बन जाता है। साइकल की अपेक्षा कार वाला, उससे अधिक रेल वाला और उससे भी अधिक जलयान और नभयान वाला परावलम्बी हो जाता है। जितना अधिक परावलम्बन उतना ही यत्ना का अभाव हो जाता है और यत्ना के अभाव में अहिंसा कैसे सम्भव है? वस्तुत. यत्ना ही धर्म है। यत्ना करते हुए, कदाचित् हिंसा हो जाती है तो इतना दूषण नही है, जितना अयत्ना मे दूषण है।

दो मुनि चल रहे हैं। एक मुनि ईर्या समिति से बड़ी यत्नापूर्वक चल रहे हैं और दूसरे मुनि इधर-उधर ताकते हुए यो ही धडाधड चले जा रहे हैं—ईर्या शोधन की ओर ध्यान नही है। पहले मुनि के बचाने का यत्न करते हुए, कोई बड़ा जीव चरण के नीचे दबकर मर गया। दूसरे मुनि के

द्वारा एक भी जीव की विराधना न हुई। अब बताइये—किसे अधिक दोष लगा ? आपकी दृष्टि मे शायद दूसरा मुनि निर्दोष और पहला मुनि दोषी हो सकता है, किन्तु भगवान् की दृष्टि मे नही। भगवान् की दृष्टि मे दूसरा मुनि छहो काय का विराधक है—भाव हिंसक है, जब कि—प्रथम मुनि उसी जीव की द्रव्य हिंसा के भागी हैं। द्रव्य हिंसा से भाव हिंसा अति भयकर है। यह क्यो ? प्रथम मुनि का उपयोग सुरक्षा मे लगा हुआ था—उनकी इन्द्रियाँ जीव मात्र के प्राणो को बचाने के उद्यम मे यत्नवान् थी। इतने पर भी उनके द्वारा जो हिंसा हो जाती है, उसका उन्हे पश्चाताप होता है। वे प्रायश्चित भी करते है। लेकिन, दूसरे मुनि मे जीव चाहे मरे या न मरे, उसमे उनमे से एक बात भी नही होती है। उसकी इन्द्रियाँ, उसका उपयोग और उसकी योग-प्रवृत्ति खुले हुए प्रवृत्त शास्त्र के समान है। इसलिए अहिंसा के यत्न के अभाव मे वह प्रमादी भाव हिंसक है। उसमे जीवो को 'न मारने का' यत्न ही नही है।

इस उदाहरण से समझा जा सकता है, कि—जिन-जिन साधनो से यतना का अभाव होता है, उन सब साधनो का उपयोग मुनि धर्म से एक दम विरुद्ध है। वाहन-प्रयोग से अपरिग्रह व्रत का भग, काल-सम्बन्धी नियमो का अतिक्रमण, ब्रह्मचर्य-गुप्ति मे अमर्यादा आदि कई दूषण उत्पन्न हो सकते हैं।

नियमो की शिथिलता, वैधानिक नहीं हो सकती

आजकल कुछ विचित्र स्वर उठ रहे हैं। प्रमाद से हिंसा होती है—यह कहकर यतना का उपहास किया जाता है। किन्तु मनमे अहिंसा के भाव हों—अप्रमत्त वृत्ति हो तो धर्माचरण का प्रयत्न न हो, ऐसा कभी सम्भव है क्या ? अप्रमत्त वृत्ति और सुरक्षा के प्रयत्न से युक्त आचरण मे कोई विरोध है क्या ? उपकार के नाम पर कोई किसी जीव के वध का कहे तो क्या

होगा। मोती के टुकडे नही किये जा सकते । यदि मोती के टुकड़े किये जाते हैं तो वह माला मे पिराये जाने योग्य ही नही रहता है। भग्न मोती की कोई कीमत नही होती। श्रावक धर्म स्वर्ण के तुल्य है और साधु धर्म मोती के तुल्य है। श्रावक धर्म मे एक दिन के लिए भी हिंसा या अब्रम्हय या आरम्भ के त्याग का महत्व है । किन्तु साधु के व्रतो मे जीवन भर मे एक जीवन वध की, एक बार झूठ बोलने की या एक बार ही अब्रम्हयचर्य के सेवन की या एक बार कच्चा पानी पीने की छूट रखने पर वे महाव्रत नही कहला सकते। वह व्यक्ति साधु नही कहला सकता । वह उत्कृष्ट कोटिका श्रावक माना जा सकता है। किन्तु यदि व्रत-ग्राहक स्वय उन छूट के होते हुए भी वह अपने आपको साधु मानने या मनवाने का आग्रह रखता हो तो वह सम्यग् दृष्टि भी है या नही—इसमे सन्देह है।

नियम-पालक ही साधक-जीवन

साधु या श्रावक साधक कब कहलाते हैं ?—जब कि वे अपने नियमो का पालन करते हैं। नियम-पालन मे दृढ रहने वाले ही सच्चे साधक हैं । किन्तु पूर्ण नियम नही पलते हो तो यथा शक्ति नियम पालते हुए, शेष मे अपनी दुर्बलता को स्वीकार करने वाले भी मार्ग पर स्थित हैं। पर नियम नही पलने पर अपनी दुर्बलता को स्वीकार करके, उन दुर्बलताओ को वैधानिकता का जामा पहनाने की रुचि वाले साधक कहाँ स्थित हैं—यह विचारणीय है। नियमो के पालन न होने पर अपनी कमजोरी को स्वीकार करना अच्छा है, किन्तु नियमो मे परिवर्तन करने की माग करना अच्छा नही है।

एक राक्षस था। जगल मे रहता था। उसके पास एक खटिया थी। कोई मुसाफिर उधर से निकलते तो वह उनका स्वागत किया करता और उन्हें सोने के लिये वह खटिया देता। पर उसमे एक बुरी आदत थी। वह

खटिया पर सोये हुये मेहमान का निरीक्षण करता। यदि वह मेहमान खटिया के बराबर लम्बा होता तो वह उसे आराम से सोने देता। किन्तु जो वह लम्बाई मे खटिया से छोटा होता तो उसे खीच-तान कर खटिया के बराबर कर देता और खटिया की लम्बाई से बड़ा होता तो उसके मस्तक और पांवो को टीपकर उसकी घड़ी कर देता। इस क्रिया मे बेचारे मेहमान के प्राण निकल जाते। लेकिन, राक्षस को इसकी परवाह नही थी।

साधक का जीवन खटिया के समान है और नियम उस खटिया पर सोने वाले व्यक्ति के समान हैं। जैसे खटिया में व्यक्ति सोता है, वैसे ही नियम जीवन मे व्याप्त होते हैं। खटिया कमजोर हो तो उसे खटिया पर बिठाना योग्य नही है। इसी प्रकार साधक जीवन मे दुर्बलता हो और नियम कठोर हो तो उसे वे नियम ग्रहण करना योग्य नही है। यदि भारी व्यक्ति खटिया पर बैठ गया हो और खटिया चरमरा रही हो तो उस व्यक्ति को खटिया से उतार देने मे ही दोनों की सुरक्षा है। इसी प्रकार जिसके दुर्बल जीवन मे कठोर नियमो के किसी कारण से ग्रहण हो जाने पर, जीवन टूटता दिखाई दे तो सहन करना चाहिये और यदि सहन न हो तो उसके लिये ईमानदारी का रास्ता खुला है ही—पर इसके लिये हम इजाजत नही दे सकते हैं। जो राक्षस वाला रास्ता है, वह हमे अच्छा नही लगता। नियमो की काट-छांट मे नियमो की आत्मा ही समाप्त हो जाती है।

खटिया मेहमानो के लिए है। इसी प्रकार साधक का जीवन साधना के लिए है। जो यह कहते हैं, कि—जीवन के लिए नियम है, नियम के लिये जीवन नहीं—यह सत्य नही है। आर्य दृष्टि तो जीवन को साधना के लिये ही मानती आई है। यह भावना नियमो के लिये जीवन का उत्सर्ग करने वालो में स्पष्ट ही दिखाई देती है। यदि हमारे जीवन मे नियमो के विषय मे कमजोरी हो—तो उसे स्वीकार करने मे कोई हानि नही है। किन्तु अपनी

अहिंसक वृत्तिवाला ऐसे करने के लिए सहर्ष तैयार हो जाएगा ? सम्यग् दृष्टि जीव पापोदय मे विरति ग्रहण नही कर सकता है, किन्तु उसे अविरति एक रोम मे भी उपादेय नही लगती है, तो क्या वह अविरति को विरति मान सकता है। देशविरत श्रावक सामान्य गृहस्थ भी हो सकता है और राजा भी। गृहस्थ या राजा श्रावक अपराधियो को दन्ड देते हैं, धन, कुटुम्ब, राज्य आदि की सुरक्षा के लिए युद्ध भी करते हैं। उस युद्ध मे हिंसा को अच्छी न मानते हुए भी वे हिंसा करते हैं तो क्या वे हिंसा को योग्य या अहिंसा मान ले-ऐसा क्या सम्भव है ?-नही, सम्यग् दृष्टि कभी भी अपनी विवशता से होने वाली हिंसा को-अपने या अन्य का बचाव करते हुए होने वाली हिंसा को-योग्य या अहिंसा नही मान सकता है। यदि वह इस प्रकार विवशता से या कर्मोदय से होनेवाले-अधर्माचरण को धर्म मान ले तो उसके लिए श्रावक के दूसरे मनोरथ का कोई प्रयोजन ही नही रहता है। जब ऐसी स्थिति है तो आज जो नियमो की कठोरता के कारण नियम-पालन मे असामर्थ्य और आचार-शैथिल्य के कारण साध्वाचार के नियमो को ढीले करने की जो मांग चल रही है, वह कहाँ तक उचित है ? अपने प्रमाद और दौर्बल्य से उत्पन्न नियम-शैथिल्य को वैधानिक रूप नही दिया जा सकता। उसे धर्माचरण नही माना जा सकता।

यह बात ठीक है,कि-नियमो की कठोता के कारण नियम यथ वत् नही पलते हैं तो मनमे ही हीनता का अनुभव होता है। किन्तु आज के मनोविज्ञान के विश्लेपण के अनुसार उसे हीनता की ग्रन्थि समझने की भूल नही करना चाहिए। हीनता की ग्रन्थि से तो मानसिक कुण्ठा और उन्नति के मार्ग मे गत्यावरोध उत्पन्न होता है। किन्तु इस हीनता के बोध को साधक स्वस्थ रूप मे ले तो उसका उत्थान मे गत्यावरोध दूर होता है और मानसिक कुण्ठा को तो कही आवश्यक ही नही रहता है। यह हीनता-बोध साधक को उच्च आदर्श सदैव दृष्टि के समक्ष रखने के लिए प्रेरित करता है।

दूसरा प्रक्षेप है, कि—कठोर नियमों के कारण मायाचार की वृद्धि होती है। किन्तु, यह बात क्या नियमो के सरलीकरण मे भी सम्भव नहीं है ? जिसे नियमो को पाले बिना ही नियमो के पालन का यश लेना होगा, वह तो सरल से सरल नियमो मे भी माया का सेवन करेगा। मायाचार को हटाने के लिए नियमो के परिवर्तन की नही, दृष्टि के परिवर्तन की आवश्यकता है।

हम ससार मे देखते हैं, कि—देश के विधान के विपरीत, कई व्यक्ति अनेको दुष्कर्म-तस्कर व्यापार आदि करते हैं। अनेको-अनेक व्यक्ति विधान के नियमो का उल्लघन करते है तो वे उसके लिए दण्डित होते हैं। किन्तु इस कारण कोई यह मांग नही करता है, कि—विधान की दृष्टि से उन अकृत्यों को योग्य मान लेना चाहिये। वस्तुतः नियम तो उच्च कोटि के ही होने चाहिए और वहाँ तक पहुंच ने के यत्न होते रहना चाहिये। यदि इस प्रकार नियमो का परिवर्तन किया जाता रहा तो फिर आचार-विधान भविष्य में सुरक्षित रह सकेगा क्या ?

साधु के और श्रावक के व्रतों मे अन्तर

श्रावक के व्रत छूट वाले होते हैं। वह इच्छा के अनुसार एक, दो या सब व्रत ग्रहण करने मे या व्रत मे कुछ छूटें रखने मे स्वतन्त्र है। किन्तु साधु धर्म मे पाँचो महाव्रत एक साथ ग्रहण करना और बिना किसी छूट के व्रत ग्रहण करना अनिवार्य है। पुराने सन्त इस विषय मे स्वर्ण और मोती को खरीदने का उदाहरण देते हैं। जैसे सोना खरीदने का इच्छुक व्यक्ति एक मासा, तोला-दो तोला या आज की भाषा मे एक ग्राम—दो ग्राम, पाँचग्राम या दस ग्राम—अपनी इच्छानुसार परिमाण मे खरीद सकता है। यदि स्वर्ण का अधिक परिमाण का टुकडा हो तो वह अपने इच्छित परिमाण का टुकड़ा कटवा सकता है। किन्तु मोती खरीदने के इच्छुक को पूरा मोती ही खरीदना

होगा। मोती के टुकडे नही किये जा सकते । यदि मोती के टुकड़े किये जाते हैं तो वह माला मे पिराये जाने योग्य ही नही रहता है। भग्न मोती की कोई कीमत नही होती। श्रावक धर्म स्वर्ण के तुल्य है और साधु धर्म मोती के तुल्य है। श्रावक धर्म मे एक दिन के लिए भी हिंसा या अब्रम्हय या आरम्भ के त्याग का महत्व है । किन्तु साधु के व्रतो मे जीवन भर मे एक जीवन वध की, एक बार झूट बोलने की या एक बार ही अब्रम्हयचर्य के सेवन की या एक बार कच्चा पानी पीने की छूट रखने पर वे महाव्रत नही कहला सकते। वह व्यक्ति साधु नही कहला सकता । वह उत्कृष्ट कोटिका श्रावक माना जा सकता है। किन्तु यदि व्रत ग्राहक स्वय उन छूट के होते हुए भी वह अपने आपको साधु मानने या मनवाने का आग्रह रखता हो तो वह सम्यग् दृष्टि भी है या नही—इसमे सन्देह है।

नियम-पालक ही साधक-जीवन

साधु या श्रावक साधक कब कहलाते हैं ?-जब कि वे अपने नियमो का पालन करते हैं। नियम-पालन मे दृढ रहने वाले ही सच्चे साधक हैं । किन्तु पूर्ण नियम नही पलते हो तो यथा शक्ति नियम पालते हुए, शेष मे अपनी दुर्बलता को स्वीकार करने वाले भी मार्ग पर स्थित हैं । पर नियम नही पलने पर अपनी दुर्बलता को स्वीकार करके, उन दुर्बलताओ को वैधानिकता का जामा पहनाने की रुचि वाले साधक कहाँ स्थित हैं—यह विचारणीय है। नियमो के पालन न होने पर अपनी कमजोरी को स्वीकार करना अच्छा है, किन्तु नियमो मे परिवर्तन करने की मांग करना अच्छा नही है।

एक राक्षस था। जगल मे रहता था। उसके पास एक खटिया थी। कोई मुसाफिर उधर से निकलते तो वह उनका स्वागत किया करता और उन्हें सोने के लिये वह खटिया देता। पर उसमे एक बुरी आदत थी । वह

खटिया पर सोये हुये मेहमान का निरीक्षण करता । यदि वह मेहमान खटिया के बराबर लम्बा होता तो वह उसे आराम से सोने देता । किन्तु जो वह लम्बाई मे खटिया से छोटा होता तो उसे खीच-तान कर खटिया के बराबर कर देता और खटिया की लम्बाई से बडा होता तो उसके मस्तक और पांवो को टीपकर उसकी घडी कर देता । इस क्रिया मे बेचारे मेहमान के प्राण निकल जाते । लेकिन, राक्षस को इसकी परवाह नही थी ।

साधक का जीवन खटिया के समान है और नियम उस खटिया पर सोने वाले व्यक्ति के समान हैं । जैसे खटिया में व्यक्ति सोता है, वैसे ही नियम जीवन मे व्याप्त होते हैं । खटिया कमजोर हो तो उसे खटिया पर बिठाना योग्य नही है । इसी प्रकार साधक जीवन मे दुर्बलता हो और नियम कठोर हो तो उसे वे नियम ग्रहण करना योग्य नही है । यदि भारी व्यक्ति खटिया पर बैठ गया हो और खटिया चरमरा रही हो तो उस व्यक्ति को खटिया से उतार देने मे ही दोनों की सुरक्षा है । इसी प्रकार जिसके दुर्बल जीवन मे कठोर नियमो के किसी कारण से ग्रहण हो जाने पर, जीवन टूटता दिखाई दे तो सहन करना चाहिये और यदि सहन न हो तो उसके लिये ईमानदारी का रास्ता खुला है ही—पर इसके लिये हम इजाजत नही दे सकते हैं । जो राक्षस वाला रास्ता है, वह हमे अच्छा नही लगता । नियमो की काट-छांट मे नियमो की आत्मा ही समाप्त हो जाती है ।

खटिया मेहमानों के लिए है । इसी प्रकार साधक का जीवन साधना के लिए है । जो यह कहते हैं, कि—जीवन के लिए नियम है, नियम के लिये जीवन नहीं—यह सत्य नही है । आर्य दृष्टि तो जीवन को साधना के लिये ही मानती आई है । यह भावना नियमो के लिये जीवन का उत्सर्ग करने वालो में स्पष्ट ही दिखाई देती है । यदि हमारे जीवन मे नियमो के विषय मे कमजोरी हो—तो उसे स्वीकार करने मे कोई हानि नही है । किन्तु अपनी

दुर्बलता के कारण जो साधनामय जीवन मे परिवर्तन होते है, उनके अनुसार नियमो में परिवर्तन करने से तो बहुत बड़ी हानि है । इससे इच्छा शक्ति का ह्रास होता है।

विहार-चर्या की कठोरता के प्रसग से साधना के विषयो मे सम्प्रति व्यक्त हो रहे गलत दृष्टिकोण के विषय मे चर्चा करके, अपनी समझ के अनुसार उसका निरसन करने का यत्न किया है, यह। अब अपने मूल विषय विहार पर पुनः आते है। पैदल चलना कष्ट रूप लगता है । किन्तु इससे शरीर मन दोनो ही स्वस्थ रह सकते हैं।

विहार के लाभ

'केशि' महाराज ग्रामानुग्राम विचरण करते हुये श्रावस्ती नगरी में पधारे। ज्ञानियो ने स्वय विहार किया। उन्होने विहार मे लाभ देखा। इसीलिये साधको के लिये विहार का विधान किया। ज्ञानी ऐसे कष्ट विधान क्यो करते हैं? क्या वे निर्दयी होते हैं? वस्तुतः इस कठोर नियम-विधान मे भी उन ज्ञानियो की अपारकरुणा के दर्शन होते है। साधन के चरण-विहार में ज्ञानियो ने चरित्र की सुरक्षा के सिवाय और भी अनेक लाभ देखे हैं।

चरण-विहार से शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक लाभ अनेको हैं। चरण विहार से शरीर का श्रम होता है जिससे साधक श्रम का अभ्यासी बना रहता है। शक्ति विकसित होती है। स्वास्थ्य-लाभ होता है और सबसे बड़ी बात यह है, कि—साधक को स्वावलम्बन का उत्तम शिक्षण मिलता है। मानसिक दृष्टि से भी उसको लाभ होता है। साधक के मन मे साहस की वृद्धि होती है। कष्ट-सहिष्णुता का विकास होता है। विविध क्षेत्रो के पर्यटन से उल्हास की प्राप्ति होती है। जगल आदि मे परिभ्रमण से भय पर जयलाभ होता है और मन की धारणा-शक्ति का विकास होता है। इनके

सिवाय विशिष्ट आध्यात्मिक लाभ की उपलब्धि चरण-विहार की विशेषता है। साधक परिभ्रमण करते हुए, पुण्य के उदय मे लीन सुखी जीवों को और पापके उदय से तड़पते हुए दुःखी जीवो को देखता है। जो उसे ससार में रहते हुए न दिखाई देती थी, वह सब कुरूपता उससे दूर होने पर दिखाई देने लगती है। वह सामान्य और विशेष कहे जाने वाले मनुष्यो के अन्तरग जीवन में दूर से ही झांककर बहुत कुछ देख सकता है। जो समाज मे उन्नत कहे जाते हैं, उनकी हीनताएँ और निम्न कहे जाते हैं उनकी दु खमय और बीभत्स स्थितियो के भीतर छिपी हुई उत्थान की छटपटाहट या करुण-क्रन्दना के साथ ही साथ एक-दूसरे को निगल ज,ने की वृत्तियो के दर्शन, उन्हें सहज मे ही हो जाते हैं। जिससे सावधान साधक के हृदय मे उन जीवो के प्रति करुणा उमड पड़ती है। इस ससार-दर्शन से ज्ञान की वृद्धि होती है। करुणा को पुष्टि होती है। उसे ऐसा लगने लगता है, कि—जिस ससार को सुख का सागर समझा जाता है, उस ससार के सुनहरे माया-आवरण के नीचे दुःखो के कीडे बुलबुला रहे हैं। उसे ससार कषायो के दावानल मे जलते हुए चीत्कारो से भरपूर जगल-सा प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसे वैराग्य और सवेग की पुष्टि के निमित्त मिलते रहते हैं। पुण्य और पाप के फलो को विचारते हुए उसे आत्म-शक्ति मे आस्था दृढ़ होने के प्रसंग प्राप्त होते रहते हैं। वह विहार से जन-जीवन को सरलता से देख सकता है और उन्हे योग्य आध्यात्मिक प्रेरणा दे सकता है। इस प्रकार वह कष्टो के बीच भी स्व-पर का विकास साध सकता है। भगवान के आशय को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है—'देह-दुक्ख महाफलं'

साधना के मार्ग मे आने वाला देह का कष्ट साधक के लिए महाफल का प्रदाता है। उस कष्ट के सहने से साधक के जीवन मे उज्जवलता आती है। वह तेजस्वी, ओजस्वी वर्चस्वी और यशस्वी बन जाता है। किन्तु यह सब विहार के लाभ उसे ही प्राप्त हो सकते हैं, जो कष्ट भीरु न हो, जिसके

मन मे अभिशाप देने की भावना न हो, जिसकी विवेक की आँखें खुली हो, जिसके मन का कण-कण मंगल-नाद कर रहा हो और इन सबसे ऊपर शासक के रूप मे आत्म-लक्ष्य पूर्वक साधना की दृष्टि सतत जाग रही हो । इससे विपरीत दृष्टि वाले जीव को विहार के ये सब लाभ प्राप्त नहीं हो सकते हैं। भगवान 'केशि' कुमारश्रमवण ऐसे ही श्रेष्ठ साधक थे, जो विहार के समस्त लाभो से अपने साधनामय जीवन को समृद्ध बना रहे थे । वे उस उपकारी महानद के समान थे, कि—वह जिधर से वहता है उस भूमि भाग को विपुल समृद्धि से सम्पन्न बना देता है, उसकी प्यास बुझता है, भूख मिटाता है, सौन्दर्य प्रदान करता है और शीतलता आदि प्रदान करता है।

वे श्रावस्ती में पधारे है। आगे इस विषय मे सूत्रकार महर्षि क्या फरमाते हैं, सो श्रवण करने पर विदित होगा ।

तिंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मि नयरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ४ ॥

—उस नगर की सीमा मे तिन्दुक नाम का उद्यान था । श्री 'केशि' कुमार श्रमवण ने प्राशुक शय्या-संस्तारक ग्रहण करके वहाँ पर निवास किया।

गाथा-गत विषय

इस गाथा मे 'केशि महाराज के श्रावस्ती नगरी मे निवास-स्थान करने का वर्णन आया है। वह नगर की सीमा मे नगर के वाहर ही ठहरे थे । उन्होंने वहाँ संयमियो के योग्य पाट, तृण आदि ग्रहण किया । इस वर्णन मे से हम निम्नलिखित विषयों को छाँट सकते हैं—(१) संयमी के योग्य निवास स्थान, (२) निवास-स्थान का साधना पर पडने वाला प्रभाव, (३)

जीवन की आवश्यक वस्तुओ मे एक-वासगृह, (४) बैठने-सोने के लिये योग्य आसन, तृण आदि का मर्यादा से युक्त ग्रहण, (५) इस मर्यादा युक्त व्यवहार का धर्म के साथ सम्बन्ध आदि ।

संयमी-जनो के ठहरने योग्य निवास-स्थान के विषय में शास्त्रो मे विधि-निषेध रूप अनेक निर्देश हैं ।

जीवन में आवश्यक वस्तुयें

जीवन मे जीवन निर्वाह के लिये कितने पदार्थों की आवश्यकता है–इस विषय मे यदि हम भली भांति विचार करें तो हमे लगेगा, कि–बहुत अल्प वस्तुओ से ही जीवन का निर्वाह हो सकता है । अर्थात् मानव-जीवन भी विश्व के अन्य जीवो के जीवन के समान अल्प वस्तुओं पर चल सकता है । किन्तु यह दृष्टि तो आज के जीवन मे तुच्छ लगती है । आज तो आवश्यकता की वृद्धि करने पर ज्यादा जोर दिया जाता है । आवश्यकताओं की वृद्धि से फला-फला जीवन उच्च स्तर वाला और आवश्यकता की अल्पता से सिमटा हुआ जीवन निम्न स्तर वाला माना जाता है । विद्यार्थी-जीवन से पाठ्य पुस्तको से यह शिक्षा मिलती है, कि–आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है । आवश्यकता की जितनी ही वृद्धि होती है उतनी ही आर्थिक समृद्धि, सभ्यता की सृष्टि और संस्कृति की उन्नति होती है । इन बातो मे कुछ तथ्य नही है, यह तो हम नही कह सकते हैं । किन्तु 'आवश्यकता' के विस्तार से समृद्धि के साथ-साथ जो अनिष्ट उत्पन्न होते है, वे आज प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं । आवश्यकता का विस्तार ऐसा राक्षस है, जो भौतिक समृद्धि के ठीकरे मानव को देकर, उसकी नैतिकता, सुख, शान्ति, प्रेम, आदर्श, आत्म-वैभव आदि को खा जाता है । खैर, यह हमारा मुख्य विषय नही है । परन्तु इतना कहना उचित है, कि–आवश्यकता की वृद्धि दुःखो की जननी है । विपुल आवश्यकताओ का स्वामी अपना स्वतन्त्रता खो बैठता है-

परतन्त्र हो जाता है। आवश्यकताएं चाहे जितनी बढा लो, किन्तु जीवन के लिए आवश्यकताए प्रकृति की ओर से जितनी नियत है, प्राय: उतनी ही रहेगी।

आवश्यकता किसे कहते हैं?--जिसके अभाव मे जीवन न चल सकता हो-वह आवश्यक पदार्थ है और उसके भाव को आवश्यकता कहते हैं। इस कसौटी पर हम पदार्थों को परखते जाय-तो हमें पता लग जाएगा, कि--जिन्दगी के लिए क्या जरूरी है और क्या बिन जरूरी है? मनुश्य श्वास लेता है--हवा मे। वह हवा मे रहता है। हवा के बिना वह जी नहीं सकता। यदि उसके शरीर में आने-जानेवाली हवा को शरीर में आने-जाने से रोक दिया जाय तो वह कितने काल तक जी सकेगा? इस प्रकार पहली और सर्वाधिक अवश्यक वस्तु है--वायु। वायु के बिना जीवन सम्भव ही नही है। किन्तु आप जिस वायुका सेवन करते है उसकी कीमत तो चुकाते हैं या नहीं? प्रकृति ने जीवन के लिए अत्यधिक आवश्यक पदार्थ को कितना सुलभ बनाया है। किन्तु व्यापारी मानव वायु का व्यापार करने से भी कहां बाज आता है? अवसर आने पर मनुष्य को कभी वायु भी खरीदना पडता है। परन्तु प्रकृति ने तो मुक्त हस्त से यह पदार्थ दिया है।

दूसरी आवश्यक वस्तु है--पानी। पानी के अभाव मे जीवन सम्भव नही है। भले ही पानी के अभाव मे मनुष्य कुछ दिन जीवित रह सकता हो, परन्तु पानी के बिना वह ज्यादा लम्बे काल तक नही रह सकता है। प्रकृति ने वायु जितना सुलभ पानी को नही बनाया है। किन्तु फिर भी वह सुलभ है। यो पानी का भी कोई खास मूल्य नही है। फिर भी यह कुछ कम सुलभ होने के कारण कुछ मूल्यवान हो जाता है।

तीसरी आवश्यक वस्तु है--अन्न। हवा के बिना मनुष्य कुछ क्षणो तक, पानी के बिना कुछ दिनो तक और अन्न के बिना कुछ महीनो तक रह सकता है। अन्न के बिना महिने भर तक रहने वाले भी विरले ही

मनुष्य होते हैं। प्राय: अन्न के बिना सामान्य मनुष्य कुछ दिनो तक ही रह सकता है प्रकृतिने पानी से अन्न को कम सुलभ रखा है। अतः अन्न बिना मुल्यके प्राय: प्राप्त ही नही होता है।

चौथी आवश्यक वस्तु है—वस्त्र। वस्त्र के बिना भी मनुष्य रह सकता है। किन्तु ऐसी सामर्थ्य सभी मनुष्यों मे नही होती है। शीत-तापके निवारण के लिए जीवन मे वस्त्रो की आवश्यकता है। वस्त्रोंके अभाव मे भी जीवन-निर्वाह कठिन हो जाता है। वस्त्र धारण का मुख्य प्रयोजन है शरीर की सुरक्षा और लज्जा का निवारण। किन्तु आज वस्त्र केवल प्रदर्शन की वस्तु रह गये है। ऐसे लग वस्त्र पहनते है—आज के तरुण-तरुणी, जिसमे वस्त्र धारण के दोनो ही प्रयोजन मारे जाते हैं। उन वस्त्रो से न शरीर की सुरक्षा है और न शीलकी। हां! अन्न जितना आवश्यक वस्त्र नही है। अतः वस्त्र प्रकृति की ओर से वस्त्र रूप मे लभ्य नही हैं। मनुष्य को कृत्रिम उपायो से वस्त्र का उत्पादन करना पढता है। अत. वह मूल्यवान भी होता है।

पांचवी वस्तु पात्र और छट्ठी वस्तु मकान भी जीवन की आवश्यक वस्तुओं मे से है। ये भी मनुष्य को कृत्रिम उपायो से ही लभ्य होते हैं। अन्नादि की सुरक्षा और सग्रह के लिए पात्र आवश्यक हैं और वर्षा, अतिशीत और अतिताप से बचने के लिए मकान आवश्यक हैं। अतः पात्र और मकान भी जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ हैं।

जीवन के लिए ज्यो-ज्यो वस्तुएं कम आवश्यक होती जाती हैं, त्यो त्यों वह अधिक अधिकतर कृत्रिम उपायो मे उपलब्ध होती है। अतः उनका मल्य भी बढता जाता है। व्यक्ति कहता है, कि—'क्या करें ? व्यवसाय नही करें तो ? पेट पीछे लगा है' किन्तु आप सब कार्य पेट के लिए ही करते हैं, कि-किसी ओर के लिए भी। क्या रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेरेलिन, टेरीकॉट

या कार भी पेट के लिए ही चाहिए। क्या मनमे यह भाव नही रहते हैं कि मैं दूसरो से ज्यादा शान-शौकतवाला दिखाई दूँ। हाँ! तो प्रकृतिने इन सब वस्तुओ को अनावश्यक ही करार दिया है। प्रकृतिकी ओर से तो आवश्यक वस्तुएँ तीन ही हैं,–वायु, पानी और अन्न। इनमे भी आवश्यकता का तारतम्य है। वस्त्र, पात्र और मकान-ये कृत्रिम उपायो से प्राप्त वस्तुओमे जीवन के लिए सबसे आवश्यक पदार्थ हैं।

साधु के लिए ग्राह्य पदार्थ

ससारी जीवो की, आवश्यकता की वृद्धि होने पर, उन्नति होती है, जब, कि–साधक-जीवन का प्रारम्भ आवश्यकता के सकोच से होता है और ज्यो-ज्यो आवश्यकता का सकोच होता जाता है त्यो-त्यो साधना की पुष्टि होती जाती है–साधना तेजस्वी बनती जाती है। साधु के लिए भी ये छहो पदार्थ आवश्यक हैं। हवा के लिए कृत्रिम उपायो की आवश्यकता नही है। पानी, अन्न, वस्त्र पात्र और निवास-स्थान ये पाँचो वस्तुएँ, साधु अन्य से याचना करके ग्रहण करता है। अतः इनके ग्रहण करने के विषय मे अनेक नियम-उपनियमो का वर्णन किया गया है। कहा है–

पिण्ड सिज्ज च वत्थ च, चउत्थ पायमेव य।
अकप्पिय न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिय॥

खाने-पीने के पदार्थोको एक 'पिण्ड' शब्द से ग्रहण किया है। इस प्रकार साधु के लिए, जीवन-निर्वाह के पदार्थो को चार वस्तुओ के रूप मे सूत्रकार महर्षिने वर्णित की हैं। पिण्ड, शय्या-निवास-स्थान, वस्त्र और पात्र–ये वस्तुए साधु के लिए आवश्यक है। ये पदार्थ साधु के नियम से विपरीत रूप से उपलब्ध होते हो तो साधु उनकी इच्छा भी न करें। किन्तु नियमो के अनुसार प्राप्त होते हो तो उन्हे ग्रहण करे। इनके ग्रहण करने मे विशुद्धि का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

जीवनोपयोगी साधनों के ग्रहण में विशुद्धि

साधक गृहस्थ हो या साधु—दोनो को जीवन–निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री ग्रहण करना पड़ती हैं। वे वस्तुएं जीवन–निर्वाह के योग्य और शुद्ध होनी चाहिए। शुद्ध वस्तुओ के उपयोग से जीवन मे शुद्धता आती है। वस्तुए जीवन–निर्वाह के योग्य हो, प्रकृति के अनुकूल हो, काल के अनुकूल हो, भक्ष्यअभक्ष्य के विवेक से युक्त या साधक के लिए ग्राह्य हो, किन्तु यदि उसे विधि और नियम से रहित ग्रहण किया जाता है तो वह वस्तु साधक के लिए अयोग्य हो जाती हैं।

साधु के लिए बनाया हुआ, किसी एक साधु के लिए बनाया हुआ, दूषित आहार से मिश्रीत, साधु और गृहस्थ दोनो के लिए एक साथ बनाया हुआ, साधु के लिए ही अलग से निकाल कर रखा हुआ, दिये आदि से प्रकाश कर के दिया जाने वाला, साधु के लिए खरीदा, हुआ, साधु के लिए उधार लाया हुआ, साधु के आहार को बदल कर दिया जाने वाला, साधु के निमित्त से सील आदि तोडकर दिया जाने वाला, साधु के स्थान पर ला कर दिया जाने वाला, छीके आदि से उतार कर दिया जाने वाला, किसी से छीनकर दिया जाने वाला, किसी के साझे की सामग्री में से उसकी आज्ञा के बिना दिया जाने वाला, साधु के लिए बढाया हुआ और अतिथि से सम्बन्धित दोषो से युक्त आहार दूषित है। साधु के लिए अग्राह्य है। ये सोलह दोष गृहस्थ की ओर से लगते है।

धात्री-कर्म, दौत्यकर्म करके, भूत-भविष्य की बातें बताकर अपनी जाति बताकर, भिखारी की तरह गिडगिड़ाकर, औषधि बताकर, क्रोध, अभिमान छल या लोभ करके, ग्रहण करने से पहले या बाद मे दाता की स्तुति करके या पहचान निकालकर, विद्या, मन्त्र, चूर्ण, वाजीकरणादि योग और गर्भ-पात की औषधि बताकर साधु को आहार ग्रहण नही करना

चाहिए। ये साधु की ओर से लगने वाले सोलह दोष हैं।

दोष की शकासे युक्त, सचित्त वस्तु पर रखा हुआ या सचित्त से ढंका हुआ आदि दश दोष, आहार ग्रहण करते समय दाता और साधु दोनो की ओर से लगते हैं। राग, द्वेष आदि भोजन करते समय पाँच दोष लगते हैं। इस प्रकार आहार सम्बन्धी कुल सैंतालीस दोष हैं। शास्त्रों मे इनके सिवाय और भी दोष गिनाये हैं। इन दोषो मे से शय्या, वस्त्र, पात्र के विषय मे जो दोष घटित होते हो उन दोषो को टालकर ही साधु को उनका उपयोग करना चाहिए। प्रश्न—हो सकता है, कि क्या ये सभी दोष आज टाले जाते हैं और यदि नही टलते हो तो ऐसे प्रतिपादन का क्या महत्व? —वस्तुत. सूत्रकार ने तो इन दोषो को टालने के लिए ही इनका विधान किया है। साधु को इन दोषों को टालना ही चाहिए। हाँ! इससे इ कार नही कर सकते है, कि-इन सब दोषो को टालने वाले साधु आज अल्प ही हैं। किन्तु साधु से यदि ये नियम पूरे न पलते हो, जितने नियम न पलते हो, उसका खेद होना चाहिए। मन मे बार-बार ऐसी भावना उठनी चाहिए 'कब ऐसा समय आएगा, कि जब हम एक भी सदोष वस्तुका अपने जीवन मे उपयोग न करेंगे।' जो महापुरुष आत्मा के ध्येय से भक्तो या अभक्तो के बीच समान भाव से और निश्छल मन-से इन नियमो का पालन करते हैं। वे अभिनदनीय हैं, वन्दनीय हैं—नमस्कारणीय हैं। अपने से नियम न पलते हो तो नियम पालनेवालो की निन्दा करना योग्य नही हैं। अब रही प्रतिपादन की बात! अर्थात् आचरण के आभाव मे उच्च बातो के प्रतिपादन का महत्व है! इसके उत्तर में मैं आपसे एक बात पूछता हू कि—आप किसी व्यक्ति में रुपये माँगते हैं, किन्तु उसकी इतनी शक्ति नहीं है, कि—वह आप के रुपये लौटा दे। पर वह कहता है, कि— आपके रुपये देना है—यह सत्य है। मुझे खेद है, कि—मैं 'आपके रुपये नही लौटा रहा हूं। अभी मेरी शक्ति नही है। जब शक्ति होगी तब अवश्य लौटा दू गा।' कदाचित् इसके बदले वह

उध्दतता से यह कहे, कि–'कैसे रुपये और कैसी बात ! आप मुझमें क्या मांगते हैं !' तो, इन दोनो बातों मेसे आपको कौन-सी बात अच्छी लगेगी ! पहली बात ईमानदारी की है तो दूसरी बात बेईमानी की है। इसी प्रकार समझ लीजिए, कि–आचरण का सत्य न रहा तो प्रतिपादन का सत्य तो रहना ही चाहिए। यदि हृदय मे कोई दुराशय न हो, कोई स्वार्थ साधने की वृत्ति न हो, कोई माया-जाल न हो तो दूषित चारित्रवाले का भी सम्यग् प्रतिपादन उत्तम है। प्रतिपादन तो जो सत्य है, वही करना चाहिये क्यो कि इससे सत्य की परम्परा बनी रह सकती है। जैसे दूषित पदार्थों को सेवन करते हुए भी अपने को निर्दोष मानना बुरा है, उससे भी अधिक बुरा है-अपनी दुर्बलता के कारण सत्य सिध्दान्त को दबाना। दिखावे के लिए तो मनुष्य बहुत कुछ कर करता है, किन्तु चारित्र पालन हो या सिद्धान्त का कथन हो–जो आत्म–हित की दृष्टि से हो वही उत्तम है–श्रेष्ठ है।

साधु के योग्य निवास स्थान

हाँ ! विषय चल रहा था, कि केशिमहाराजने तिन्दुक गन में निवास किया। यद्यपि साधुने गृह त्याग दिया है इसीलिए वह अनागर कहलाता है, फिर भी उसे कही न कही निवास करना ही पड़ता है। पहले यह कह चुके हैं कि–जीवन को टिकाने के लिए निवास-स्थान की भी आवश्यकता है। वहाँ जीवन के आवश्यक पदार्थों के विषय मे विचार करते हुए आवश्यक वस्तुओ की पक्ति मे मकान को अन्तिम स्थान दिया था। किन्तु शास्त्रकारने वस्त्र और पात्र से पहले निवास-स्थान का उल्लेख करके आहार के बाद उसे द्वितीय स्थान दिया है और सयम-साधना की दृष्टि से यह योग्य भी है।

साधु के निवास के योग्य कौन-सा स्थान हो सकता है ? जो साधु

के लिए बना हुआ न हो, जहाँ छह काय के जीवो का आरम्भ न होता हो, ऐसे निर्दोष स्थान मे ही साधु को ठहरना चाहिए। ऐसे निर्दोष स्थान मे ठहरने से दूषण नही लगते है। साधु के ठहरने योग्य स्थान भी बताए गए है। देवगृह-(यक्ष के मन्दिर आदि,) सभा, परिव्राजक के मठ, वृक्ष के नीचे, कृत्रिम गुफा वन, लुहारशाला, रथशाला, कूपशाला, उद्यान, पर्वत की गुफा, पर्वतगृह यज्ञ मण्डप, शून्यगृह, श्मशान, हाट, आदि १८ प्रकार के स्थान या और भी इस प्रकार के निर्दोष स्थान साधुओ के ठहरने योग्य बतलाए है।

इन स्थानों मे निरवद्यताका विशेष ध्यान रखा गया है। शास्त्रों मे, मुनियो के नगर के बाहर उपवन आदि मे ठहरने का ही उल्लेख अधिक मिलता है। नगर में भी ठहरने का निषेध नही था। परन्तु साधु अधिकतर एकान्त स्थान ही पसन्द करते थे हाँ! साध्वियों के लिए यह नियम था, कि–उन्हें नगर के बाहर नहीं ठहरना चाहिए। उनके लिए नगर मे भी प्राय. कपाटवाले गृह मे ही ठहरने का विधान था। इन स्थानो मे ठहरने के लिए, वे जिनके अधिकार मे हो उनकी आज्ञा लेना अनिवार्य था। बैठने सोने के लिए पाट, पटिये, तृण आदि की भी याचना की जाती थी, जिन्हे वहाँ से जाते समय उनके स्वामियो को लौटा दिया जाता था। साधुओ को वर्षावास के योग्य स्थानो की भी खोज करना पडती थी।

नियमों से जीवन शुद्धि

इन कठोर नियमो के विधान मे सूत्रकार महर्षि की यही दृष्टि है, कि–साधक अहिंसा, सत्य आदि के चरम उत्कर्ष को साधे। जब अहिंसा आदि से साधक का अन्तरग सम्बन्ध स्थापित होता है, तभी उसके जीवन की शुद्धि प्रारम्भ होती है। तत्वार्थ-श्रद्धान के साथ जब साधक स्थूल रूप से खान-पान पर संयम-मद्य-मासादिका परिहार करता है तब वह सुख-शान्ति के प्रवेश-द्वार में खड़ा होता है। फिर साधक के जीवन मे नियम क्रमशः

कठोर होते जाते है। इन नियमो के पालने से जीवन मे क्रमशः शुद्धि होती है। जितना जीवन शुद्ध होगा, उतना ही ध्यान शुद्ध होगा। शुद्ध ध्यान से आत्म शुद्धि होगी और आत्मशुद्धि से सकल कर्मों का क्षय होगा।

जीवन एक प्रवाह के समान है। जैसे प्रवाह जल-स्रोत और पृथ्वी के आश्रित है। अतः जल की प्राप्ति के स्रोत और बहाव की भूमि के गुण दोष प्रवाह मे भी आ जाते हैं। वैसे ही जीवन प्रवाह के सहायक आहारादि पदार्थ और उसके आधार-क्षेत्र के गुण दोष जीवन-प्रवाह मे भी प्रविष्ट हो जाते हैं। उस सत्य को प्रकट करनेवाली लोकोक्तियाँ भी प्रसिद्ध हैं।

आहारादि के विषय मे मालवी लोकोक्ति यह है, कि—

जैसो खावे अन्न, वैसो होवे मन्न।
जैसो पीवे पाणी, वैसी बोले वाणी॥

और निवास या संगति सम्बन्धि लोकोक्तियाँ ये है।

जेवु सग, तेव रग। या—
जैसो देश, वैसो भेष॥

आशय यह है कि—जीवन के सहायक रूप द्रव्यो और निवास स्थान का जीवन पर प्रभाव पड़ता है। अतः अन्न, वस्त्र, पात्र आदि द्रव्यो की तथा मनुष्यो की सगति, निवास-क्षेत्र आदि निवास की शुद्धि के लिए, साधक के विकास के क्रम को ध्यान मे रखते हुए, उनकी शुद्धि की तरतमता के अनुरूप ज्ञानी जनोंने विविध नियमोपनियमो का विधान किया है। उन्हे हम सुविधा के लिए द्रव्य-शुद्धि और निवास शुद्धि कह सकते हैं। प्रत्येक शुद्धि को प्राप्ति, प्रयोग और त्याग इन विभागो मे बाँट सकते हैं। गृहस्थ-उपासकों को वैभव की प्राप्ति मे न्याय को प्रमुख स्थान देना चाहिए। उसके पास न्याय-सम्पन्न-वैभव ही होना चाहिए। और साधु को द्रव्य-प्राप्ति मे पहले जो नियम बता चुके हैं, उनका पालन करना चाहिए। प्रयोग के समय

संविभाग, मात्रा, मानसिक शुध्दि आदि का और त्यागने योग्य पदार्थों के त्याग के समय योग्य, क्षेत्र विधि, मर्यादा आदि का ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार क्या गृहस्थ और क्या साधु दोनो के जीवन में व्यवहार शुध्दि की आवश्यकता है। यदि व्यवहार मे निर्मलता नही है तो जीवन मे भी उन्नति नहीं हो सकती है। व्यवहार की मलिनता हो तो जीवन की मलिनता नही टल सकती। यदि व्यक्ति यह चाहे कि मुझे व्यवहार न सुधारना पड़े और आत्म-शुध्दि भी हो जाए तो यह कभी सम्भव नहीं है।

शुद्धि और छुआछूत

द्रव्य-शुद्धि और छुआछूत मे बहुत भिन्नता है। व्यक्ति में, निम्न कुल मे जन्म लेने के कारण अस्पृश्यता का आरोपण छुआछूत है। उन व्यक्तियो के छू जाने से वस्तु अपवित्र हो जाती है—ऐसी भावना इस विचारणा मे है। ऐसी अस्पृश्यता का सम्बन्ध लोक-व्यवहार से है। जैन धर्म मे अस्पृश्यता का स्वरूप कुछ और ही रूप मे है। वह अस्पृश्यता जाति की हीनता आदि की दृष्टि मान्य नही है। जैसे साधु या साध्वी के लिए विरोधी लिंग वाले का स्पर्श वर्ज्य है और विरोधी लिंग वाले के बैठे हुए स्थान आदि पर कुछ देर बैठना निषिध्द है उसमें ब्रम्हचर्य की सुरक्षा की दृष्टि है। और वनस्पति आदि सचित्त पदार्थ के स्पर्श के निषेध मे अहिंसा के पालन का ध्येय है। जैन दृष्टि से शुध्दि का यह आशय है, कि-जीवन-निर्वाह के योग्य, संयम-यात्रा के अनुकूल नियम के अनुसार न्याय से उपलब्ध पदार्थों और निवास-स्थानो का ही सेवन हो। ऐसी शुध्दि ही वास्तविक शुध्दि है साधना की दृष्टि से ग्राह्य शुध्दि है। शारीरिक आदि दृष्टि से मान्य शुध्दि का भी जो नियमो मे बाधक न हो तो निषेध नही है।

शुद्धि-अशुद्धि का प्रभाव

नियम-न्याय से सम्बन्धित शुद्धि-अशुद्धि का सम्बन्ध आत्मा के परिणामो से रहता है। अत. उनके ग्रहण करते समय जो विचार होते हैं, उन विचारों के दोष से वे पदार्थ दूषित हो जाते हैं और उन दूषित पदार्थों के सेवन से जो देह मे प्रक्रिया होती है, जिन पुद्गुल-स्कन्धो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, उनका प्रभाव प्रमादी आत्मा पर हुए बिना नहीं रहता है। जो अपने उपयोग मे सावधान नही है, वह उन पुद्गुल-स्कन्धो के सम्पर्क के निमित्त से अपने आत्मगत कर्मों के होने वाले उदय के प्रवाहो मे बह जाता है—भले वे कर्म शुभ हो या अशुभ। यदि वे आत्मा से सम्बन्धित होने वाले पुद्गुलो के स्कन्ध, तीव्र कषाय के प्रभाव से सयोजित होगे तो अशुभ भाव की उत्पत्ति मे निमित्त बनेंगे और यदि वे मन्द कषाय के प्रभाव से सयोजित होंगे तो शुभ भाव की उत्पत्ति मे निमित्त बनेंगे।

एक राजाने न्याय-सभा के निर्माण का निर्णय किया। उसकी इच्छा थी, कि-योग मुहूर्त मे उसकी नीव डाली जाय। उसने राज-ज्योतिषी को बुलवाया और उनके सामने अपनी इच्छा रख दी। ज्योतिषीजी ने गणित करके शुभ मुहूर्त बता दिया। उस मुहूर्त मे नीव खुद गई। ज्योतिषीजी ने नीव पूरने का भी मुहूर्त दिया। नीव पूरने के समय राजा, सभासद ज्योतिषी आदि अनेक व्यक्ति वहाँ उपस्थित हो गये। ज्योतिषीजी ने कहा 'राजन्' न्याय से उपर्जित द्रव्य मे से लेकर, दो स्वर्णमुद्राएं नीव मे रख दी जायँ और फिर नीव भरी जाय, तो सभा भवन चिरकाल पर्यन्त स्थित रहेगा।'

राजाने तुरन्त आदेश दिया--कि भण्डार से दो स्वर्णमुद्रा लायी जाय। ज्योतिषीजी ने नम्रता-पूवक कहा--'महाराज' क्षमा करें। मुझे सत्य बात कहना होगी ! राज—भण्डार का द्रव्य न्याय से ही प्राप्त नही है।'

तब राजाने कहा—'कोई बात नही ज्योतिषीजी'। मेरे भण्डार की स्वर्णमुद्राए न सही। किन्तु मेरे इतने अधिकारी हैं? मेरी इतनी प्रजा यहाँ खड़ी है। इनमें से किसी न किसी के पास नीति से प्राप्त किया हुआ धन होगा!'

राजाने वहाँ पर खडे हुए अधिकारियों और प्रजा पर दृष्टि डाली। सब नीची नजर किये खड़े थे। किसी का भी साहस नही हुआ, कि—आगे आकर—'मेरा धन नीतिका है—' यह कहे। वस्तुत अपना पाप अपने से छिपा हुआ नही होता है। राजा यह देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। वह बोला—'क्या किसी के पास नीति से प्राप्त धन नही है।' सब चुप खड़े थे। पर यह कौन कहे, कि—'यथा राजा तथा प्रजा।'

तब ज्योतिषी बोले—'मालूम पड़ता है—यहाँ जिनदत्ताजी नही है। महाराज नगर के पद प्रसिद्ध है, कि—सेठ जिनदत्त के यहाँ सभी कार्य न्याय-नीति मे होता है।' जिनदत्ताजी के नाम की पुकार हुई। परन्तु सचमुज मे वहाँ जिनदत्ताजी नही थे। राजाने सैनिक को भेजकर जिनदत्त को बुलवाया। जिनदत्तजी के आने पर, राजाने उनसे पूछा—'क्या तुमने अपना धन न्याय-नीति से ही उपार्जन किया है?'

राजा के द्वारा एक दम तीर के वेग से सीधे प्रश्न को सुनकर, जिनदत्त को आश्चर्य हुआ। उसे राजा का प्रश्न शिष्टाचार मे विहीन लगा। उसने सोचा—'इतने जनो के बीच राजाजी के द्वारा ऐसा प्रश्न पूछे जाने का क्या आशय है? क्या किसीने झूठी चुगली खाई है? परन्तु मैंने तो कभी अनीति का आचरण किया नही है। फिर मुझे किस बात का भय?' वह शान्ति-पूर्वक बोला—'राजन्! मेरी जानकारी मे तो मैंने अनीति से एक छदाम भी स्वीकार नहीं की है?'

राजाने कहा—'अच्छा! तो हमे दो स्वर्णमुद्रा की आवश्यकता है।

तुम हमें दो स्वर्णमुद्राए लाकर दे दो।'

जिनदत्त को यह बात सुनकर और भी आश्चर्य हुआ। राजा मुझ से याचना क्यो कर रहे हैं? क्या इसमे कुछ रहस्य है? उसने कहा—' बस दो स्वर्णमुद्राए। किस लिए चाहिए राजन्। आपको? मुझे पता भी तो चले।

राजा बोला—'देखो, यह जो सभाभवन बन रहा है, इसकी नीव मे रखने के लिए, दो स्वर्णमुद्राओ की आवश्यकता है।'

जिनदत्त यह बात सुनकर, विचार में पड गया, कि—स्वर्णमुद्राए दू या न दू! राजसभा मे सदा न्याय ही होगा, अन्याय नही होगा—इसका क्या विश्वास? यदि देता हू तो भविष्य में होने वाले अन्याय का समर्थक बनता हू और नही देता हूं तो राजदण्ड का भय है। पर भय के कारण गलत कदम उठाऊं क्या? नही, यह नहीं होगा। उसने निर्भयता से कहा—' राजन्! इस काम के लिए तो मैं कुछ नही दे सकूंगा।'

राजा उसके सामने ताकने लगा। जनता आश्चर्य-चकित रह गई। ईर्ष्यालुओं ने सोचा—बहुत शेखी बघारती है। बच्चू को अब आटे-दाल का भाव मालूम पड़ जाएगा। जिनदत्त के हित चिन्तकों को लगा, कि पहले से कोई षड्यन्त्र रचा गया है—बदला लेने के लिए और जिनदत्त अपने भोलेपन के कारण उस जाल मे फस गया! राजा के लिए यह एकदम नया अनुभव था। उसने कोई वस्तु मांगी और किसी ने उसे देने से इनकार किया हो ऐसा कभी हुआ नही। उसका तन-मन गर्म हो गया। उसके मुंह से अनयास ही निकल गया—'क्या कहा?'

उसी निर्भयतासे जिनदत्त ने उत्तर दिया—'महाराज' मैं इस काम के लिए एक कौडी भी नही दे सकता हूं।

राजा का क्रोध बढ गया। वह जोर से दहाड़ा–'क्यों ?'

जिनदत्त ने विचलित हुए बिना ही उत्तर दिया–'महाराज' आप कारण जानना है तो शान्ति से सुन लीजिए। आपका यह सभा-भवन बनने या इसमे बैठकर, न्याय होगा और अन्याय के नाम पर अन्याय भी हो सकता है। इसमें बैठकर प्रजा पर अत्याचार करने की नीति का निर्माण हो सकता है। गरीबो से धन ऐंठकर इसमे रग-रेलियाँ मन सकती हैं दुर्बलो को सताया जा सकता है। निरर्थक युद्धो के निर्णय हो सकते है और यहीं से हो सकता है–अनीति का समर्थन तथा नीति को मटियामेट करने के षडयन्त्र अब आप ही सोचिए महाराज ! न्याय की नींव पर अन्याय का भवन खडा करने मे कैसे सहायक बन सकता हू !'

जिनदत्त की बात पूरी होने से पूर्व ही राजा चिल्ला पड़ा–'क्या बक रहे हो ? किसके सामने बोल रहे हो ? तुम्हारा यह साहस ?'

जिनदत्त बोला–'महाराज ! अप्रसन्न मत होइए ! मैं होश में ही बोल रहा हूं। मैं यह अच्छी तरह से जानता हू कि–जिसके सामने मैं बात कर रहा हूं, यदि वह नाराज हो जाएँ तो मेरा सर्वस्व छीन सकते हैं। परन्तु, महाराज ! इस भय से क्या मैं सन्मार्ग छोड़ दूँ।'

राजाने चिढकर कहा– अच्छा तो तुम्हे यही ठीक लगता है, कि मैं तुम्हारा सर्वस्व छीन लूँ !' मन्त्री और ज्योतिषी ने देखा, कि–अनर्थ होने जा रहा है। एक निरपराधी और नगर के शृंग रूप श्रेष्ठि को अकारण ही दण्ड मिलने जा रहा है। दोनो ही राजा को शान्त करने के लिए आगे बढे मन्त्री बोला–'महाराज ! शान्त होइए ! शान्त होइए ! इस प्रकार क्रुद्ध होकर, आप जिनदत्त का सर्वस्व भी ले लेंगे तो आपके लिए वह न्याय का वित्त रहेगा क्या ?' राजा अपने पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करने लगा।

ज्योतिषीजी बोले—'महाराज ! शान्त होइए। अब उन स्वर्णमुद्राओं की कोई सार्थकता नहीं रही। क्योंकि मुहूर्त का समय निकल गया है।' राजा जहर का घूँट पीकर रह गया। परन्तु उसके मन मे बात चुभ गई। वह बोला—'यह नीति-अनीति की बात चलाई ? इसमें ऐसी क्या विशेषता है ? यह कैसा ढोंग पाल रखा है ? इस पाखण्ड के बल पर जिनदत्त अपने आपको बहुत ऊँचा समझ रहा है। अपने अभिमान के पोषण के कैसे विचित्र ढग है ये।'

जिनदत्त शान्ति से सुनता रहा, कुछ नही बोला। जिनदत्त के हितचिन्तको ने सोचा, कि-अनिष्टि की घटाएँ बरसने से तो टल गई हैं। परन्तु अभी विपत्ति का कुहासा छँटा नही है। राजा पुन बोला—'मैं अब परीक्षण करना चाहता हू-इस नीति-अनीति के प्रभाव का ! एक स्वर्णमुद्रा राजभण्डार से और एक स्वर्णमुद्रा जिनदत्त से ली जाय और मंत्रीजी ! इन मुद्राओ के प्रभाव के परीक्षण का उत्तरदायित्व आप पर रहा है। मैं इस बात का भली-भाँति निर्णय करना चाहता हूं।

जिनदत्तने यह बात सहर्ष स्वीकार की।

मन्त्रीने दोनो स्वर्णमुद्राए ले ली। मन्त्री अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर, दिन के चौथे पहर मे अपने महल से निकला। वह उन स्वर्णमुद्राओं के परीक्षण के विषय मे योजना बना रहा था। योजना का स्वरूप स्थिर करने मे उसका मन लगा हुआ था। पर कैसे परीक्षण करना—यह स्पष्ट नहीं हो रहा था। वह विचार करता हुआ, उद्यान में परिभ्रमण कर रहा। उसे उद्यान के एक कोने के वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न एक योगी दिखाई दिया। योगी को देखते ही मन्त्रीने विद्युतवेग से निर्णय कर लिया और वह योगी की ओर चल पड़ा। उसने देखा योगी की आखे बद थी। मंत्री ने राजा की स्वर्णमुद्रा धीरे-से योगी के सामने रख दी और आप वृक्ष की ओट में खड़ा

हो गया। धूप स्वर्णमुद्रा पर पड़ रही थी। योगी पर छाया थी। स्वर्णमुद्रा से प्रति प्रकाश निकल कर योगी के मुख मण्डल को दीप्त करने लगा। योगी का ध्यान उचट गया। उसने आखे खोली। योगी की दृष्टि स्वर्णमुद्रा पर पडी। उसके मनमे विचार उठने लगे–'यह स्वर्णमुद्रा यहा कहाँ से आई? देखू तो सही, कैसी है यह?' उसने स्वर्णमुद्रा लेने के लिए हाथ बढाया उसे विचार आया,–'अरे? मैं तो योगी हू! क्या मतलब मुझे स्वर्णमुद्रा से? पर देखने मे क्या पाप लगता है! किसी भक्त को दे दूंगा तो उसके काम आएगी। यह यहाँ तो पडी नही रहेगी! कोईन कोई इसे ले ही जाएगा! फिर मैं ही क्यो न उठालू।' उसने स्वर्णमुद्रा उठाली। मत्री दूर खडा-खड़ा उसके भाव-परिवर्तन को–हिचकिचाते हुए स्वर्णमुद्रा उठाने को तीक्ष्ण दृष्टि से देख रहा था। मत्री उसकी एक-एक चेष्टा से उसके भाव को परखने का प्रयत्न कर रहा था उसकी दृष्टि योगी पर लगी हुई थी।

योगी अल्पवय मे ही गुरु के सान्निध्यम मे आ गया था। उस ससार का विशेष अनुभव नही था। पचास वर्ष के आसपास उसकी वय थी। चालीस वर्ष के लगभग उसे योगी की अवस्था मे रहते हुए हो गये थे। वह अभी तक ससार से दूर ही दूर रहा था। उसके लिए कभी प्रलोभन का प्रसंग ही उपस्थित नही हुआ था। उसे गृहीजनो के प्रति कभी भी उत्सुकता ही पैदा नही हुई थी। किन्तु आज स्वर्णमुद्रा हाथ मे आते ही विचार का तूफान उठ खडा हुआ – 'भक्त को क्यो दूं भला यह स्वर्ण मुद्रा! मेरे काम में नही आ सकती है क्या? ससार मे मनुष्य वैभव के सामीप्य से सुख का अनुभव करते है तो मैं भी इसकी समीपत्ता के सुख का कुछ रस चाखू!' वह बार-बार स्वर्णमुद्रा को उलटने-पलटने लगा और एक विचित्र खुमारी का अनुभव करने लगा। उसका विचार-प्रवाह बह रहा था–' कैसा गौरव है– स्वर्ण के स्वामी बनने मे? मैं कैसा अनुभव कर

रहा हू ? अच्छा, अब समझ गया। मेरे जीवन मे इसके अभाव से जो अपूर्णता थी, उसे भरने के लिए ही ईश्वर ने मुझे यह प्रदान की है। हाँ। खण्डित जीवन भी कोई जीवन है। मैंने योग का अनुभव तो किया, परन्तु कामानन्द को ब्रम्हानन्द-सहोदर कहते है-विषयी लोग, उसका भी तो मुझे कुछ अनुभव लेना चाहिए। आनन्द तो समग्र जीवन जीने मे ही है। अभी तक मैं संसार से कटकर योग मे जिया। भगवान् को मेरी यह अपूर्णता अच्छी नही लगी। ईश्वर भी तो अपनी शक्ति के स्वामी हैं। उन्होंने ही मुझे यह मुद्रा प्रदान की है। फिर भोग-सुख का अनभव क्यो न लू। कहाँ मिलेगा वह सुख। वेश्या के यहाँ चलू तो फिर उसी ओर।' योगी के हृदय मे दमित वासना ताण्डवे-नृत्य करने लगी। योगी की योग-भूमि वासना के ताण्डव से शत खण्ड हो गई। उसके नेत्र उद्दाम वासना से उद्दीप्त हो उठे। मत्री ने योगी का भाव-परिवर्तन उसकी काय चेष्टा से जाना। मन की भावो की तह तक तो मत्री न जा सका। लेकिन उसे लगा, कि– योगी मे कुछ विचित्र परिवर्तन हुआ है। सूर्य ढलने का समय हो रहा था। योगी उठा और नगर की ओर चल दिया। मत्री ने भी उसका अनुसरण किया। योगी वेश्या के मोहल्ले की ओर मुडा। मन्त्री ने अब सारी परिस्थिति भांपली। मंत्री ने वेश बदल रखा था। इसलिए उसे कोई चिन्ता नही हुई। योगी रास्ते मे कुछ बडबडाता आ रहा था। उसके खण्डित वाक्यो से मत्री ने इतना समझ लिया, कि–यह पहली ही बार इस ओर कदम भर रहा है।

योगी वेश्या के यहाँ पहुच गया। वेश्या और वहाँ पर स्थित मनुष्यो ने योगी की मजाक उड़ाई तो योगी ने आवेश के साथ वेश्या को सम्बोधन करके कहा–'तुम्हे क्या मतलब है वेश से ? योगी आए या भोगी–तुम्हे तो अपनी इच्छित वस्तु पाकर, उनकी इच्छा पूण करना चाहिए।' वेश्या ने योगी से आशा से अधिक पाकर, अन्य लोगो को वहाँ से खिसकने का

का सकेत कर दिया और योचालीस वर्ष का ब्रम्हचर्य एक क्षण मे नष्ट हो गया । योगी लुट गया ग्रौर अपने जीवन का सर्वस्व हार गया । मन्त्री को यह सब जानकर बहुत खेद हुआ ।

दूसरे दिन मत्री वायु-सेवन का करने गया । प्रात काल का समय था । एक मछुआ नदी मे जाल डालकर मछलियां पकड रहा था । उसने टोकरे में बहुत-सी मछलियाँ जमाकर ली थी । टोकरे मे मछलियां तड़प रही थी । मछुएने जाल समेटा । उसे कन्धे पर डाला ग्रौर सिर पर टोकरा रखकर, नगर की ओर रवाना हुग्रा । मन्त्री को विचार हुआ, कि —' उस अहिंसा के ग्रभिमानी श्रेष्ठि की स्वर्णमुद्रा इस हिसक मनष्य को देना ठीक है । जिससे इसके धन्धे के विस्तार से उसका नीति की कमाई मद उत्तर जाए ।' मत्री ने मछुए के पास पहुचकर, उसके हाथ पर वह स्वर्णमुद्रा रख दी । वह ग्राश्चर्य मे मत्री की ओर देखने लगा । मत्री ने कहा–'तुम्हारा दारिद्र देखकर, मुझे दया ग्रा गई । मैंने तुम्हे यह सहायता की रूप मे दी है । तुम्हारा जी चाहे उस रूप मे इसका उपयोग कर सकते हो ।'

मछुग्रा बडा प्रसन्न हुग्रा । उसने टोकरा नीचे रखकर, अपने चीथडे से कपडो मे स्वर्णमुद्रा को बांधकर, अपनी कमर मे खोस ली । टोकरे मे मछलियां उछल रही थी–तड़प रही थी । उसकी दृष्टि उनपर पड रही थी । यो तो उसने तडपती हुई मछलियो को देखते हुए ही वय व्यतीत की थी । पर ग्राज उनकी तडप मे उसका मन कांप गया । फिर भी उसने सिर पर टोकरा उठाया और वह आगे बढ गया । उसे टोकरे मे तडपती मछलियो के कम्पन की ग्रनुभूति हो रही थी । अकस्मात् उसके रोम-रोम मे उसे कम्पन का अनुभव होने लगा । आज उसे न जाने क्या हो रहा था ? उसे बचपन में एक मुनि से सुनी हुई कहानी याद ग्रा गई । उस कहानी मे बताये

गये पाप-पुण्य के फल के दृश्य उसकी आंखों सामने तैरते से दिखाई देने लगे। उसके कदम ढीले पड़ गये। उसे अपनी आजीविका पर पश्चाताप होने लगा। उसने विचार किया —'जिन्दगी बीत गई, कभी सोना हाथ आया ही नही। आज मेरे पास एक स्वर्णमुद्रा है। यह मेरे पुण्य के उदय से मुझे मिली है। तो, इस भाग्योदय को बधा लू ं। इसके द्वारा ऐसा कार्य करू ं, कि—यह जीवो को मारने का धंधा छूट जाय।' उसने मन ही मन कुछ निर्णय किया और वह नदी की ओर लौट गया। उसने तडपती हुई मछलियो को नदी मे डाल दिया। कुछ ही पल मे स्वतन्त्र बनी हुई मछलियाँ किलोलें करती हुई नदी मे खिसक गई। उसे मछलियो को पानी मे जाते हुए देखकर आनन्द हुआ। मन्त्री, जो कि समीप ही टहल रहा था, यह दृश्य देखकर, चकित हो गया। वह मछुए के पास आया और बोला —'यह तुमने क्या किया? इतनी महनत करके, पकड़ी हुई मछलियो को क्यों छोड दिया? अब क्या करोगे?'

मछुआ बोला—'दयाल! आपको धन्य है। आपने मुझे स्वर्णमुद्रा क्या दी-मेरा काया-पलट हो गया। मैंने पापोदय से पापीकुल मे जन्म पाया जिन्दगी भर तक पाप करता रहा। परन्तु कुछ भी धन न जोड़ पाया। आज उन पापो को याद कर मेरा दिल कांप उठा। अब मैं यह कार्य कभी नही करू ंगा! मैंने यह निर्णय किया है, कि—मैं इस स्वर्णमुद्रा से ऐसा धन्धा प्रारम्भ करू ंगा, जिससे दो पैसे की प्राप्त भी होगी और मैं इस पापसे भी बच जाऊ ंगा। मनुष्य। जन्म बार-बार नहीं मिलता है। पेट तो और धधो से भी भर सकता है।' उसने मन्त्री को प्रमाण किया और अपने घर की ओर चल दिया।

राजसभा मे मन्त्री ने परीक्षण का निष्कर्ष सुनाया। राजाने जिनदत्त को बहुत सन्मान दिया। पर राजा ने एक प्रश्न पूछ लिया—'जब नीति से

प्राप्त धन जीवो के लिए नीति की प्रवृत्ति में कारण बन सकता है। तो तुमने नीव मे डालने के लिए स्वर्णमुद्राएँ क्यो नही दी :

जिनदत्त–'महाराज' नीतिकी मात्र दो मुद्राएँ रहती और शेष धन कैसा व्यय होता—यह आप विचारिए। उसमे बेचारी दो मुद्राएं कितना जोर मारती!'

इस कथा का ध्येय स्पष्ट है।

नीति से प्राप्त द्रव्य नीतिका पोषक

नीति से प्राप्त द्रव्य नीति का और अनीति से प्राप्त द्रव्य अनीति का पोषक या प्रेरक बन सकता है। योगी अनीति से प्राप्त धन से योग भ्रष्ट हो गया और मछुआ नीति से प्राप्त धन से अहिंसक बन गया। आज सम्पत्ति के पीछे नृत्य करते हुए असदाचार की ओर देखो और सोचो उसका मूल कहा है?

इस कथा की या इस जैसी अन्य कथा की ओट लेकर, अभी-कभी कोई उपदेशक साधु-वर्ग के आचार-शैथिल्य का उत्तरदायित्व गृहस्थ के काने धन पर डाल देते हैं—यह बात ठीक नही है। वास्तव मे गृहस्थ और साधु के अपने-अपने नियमो को पालन करते हुए जीवन-उपयोगी साधन सामग्री का ग्रहण करना न्याय से प्राप्त द्रव्य है और इससे विपरीत रूप मे ग्रहण करना अन्याय से प्राप्त द्रव्य है।

जीवन-निर्वाह और उसके साधनो की शुद्धि, आत्म-शुद्धि के लिए परम आवश्यक है।

साधक के लिए योग्य स्थान आवश्यक

८,

केशिमहाराज श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक नाम के उद्यान मे विराजमान हुए—इस विषय मे गत दिन बात चली थी। इस विषय मे जो कुछ

कहना शेष है-वह कहकर विषय आगे चलाया जाएगा।

आर्य केशिकुमार श्रमण उत्तम साधक थे। पर वे भी संयम-मर्यादा का पालन करते थे। साधना के योग्य स्थान मे उन्होने निवास किया। जब तक साधक मे प्रमाद दशा अश मात्र भी विद्यमान है तवतक उसे ब्रम्हचर्य श्रादि व्रतों की सुरक्षा के लिए, व्रती के योग्य स्थान मे निवास करना लाभ प्रद है। सयम से प्रतिकूल स्थान में साधना मे कई विघ्न उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिए गृहस्थ साधकों के लिए भी निवास-स्थान के विषय मे विविध नियमो का निर्देश श्राचार्यों ने किया है। गृहस्थ से भी अधिक संयमी जीवन साधु का है। अत: साधुको अपनी साधना की सुरक्षा के लिए अत्याधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। जो वीतराग हो गये हैं, जिन्होंने आत्म विकास के चरम स्तर को पा लिया है, उन साधको को स्थान का वातावरण कुछ प्रभावित नहीं कर सकता है। किन्तु जो साधक अभी उस स्तर तक नही पहुंचे है, उन्हे तो संयम से सम्बन्धित व्यवहार-मर्यादा का पालन श्राव-श्यक है ही। पर श्रे उच्चताको प्राप्त महान् साधक जो साध्य की कोटि में पहु च गये हो कल्पातीत होते हुए भी प्राय: व्यवहार मर्यादा का लोप नही करते है।

व्यवहार-पालन बनावट है ?

शिष्ट-जन-सम्मत आचार श्रौर संयम-रक्षक व्यवहार की श्राज अवहेलना की जाती है। कहा जाता है—यह सब बनावट है, कृत्रिमता है। परन्तु जरा गहराई से सोचिए-क्या मनुष्य बुद्धि हीन प्राणी है ? जिस भी जीव मे वुद्धि होती है, उसमे अपने आचारण, अपनी रहन सहन, अपनी बोल चाल को व्यवस्थित रूप देने की चेष्टा होती है। अरे ? प्राकृतिकता के नाम पर, अव्यस्थित उलझन भरे जीवन को हो व्यवस्थित करने की चेष्टा होती है। बीटल, हिप्पी और उनका अनुसरण करने वालो मे क्या हो रहा है ?

अव्यवस्थित जीवन की नकल नही हो रही है क्या ? खैर, उनका इस विषय से अभी कुछ सम्बन्ध नही है। अभी तो उनकी बात चल रही है, जो संयम को अप्राकृतिक बतलाते है। वे विचार करके बताएं, कि—मनुष्य जीवन में कितनी प्राकृतिकता है ? मनुष्य-जीवन मे प्राकृतिकता से अधिक कृत्रिमता ही दिखाई देगी। क्या ग्राम और नगरो की रचना प्राकृतिक हैं ? क्या भवनो मे रहना, विद्युद्दीपो का उपयोग करना नाटक-सीनेमा देखना और वासनाओ के विचार मे रात-रात भर जागना प्राकृतिक है ? वस्त्र, पात्र, शय्या आदि का उपयोग प्राकृतिक है ? मनुष्य को तो भोजन भी प्रकृति-दत्त प्राप्त नही है। भोजन भी मनुष्य अपने श्रम से प्राप्त करता है। मनुष्य के विकास का प्रारम्भ ही प्रकृति से सघर्ष करते हुए हुआ है और होता है। यदि मनुष्य प्रकृति से सघर्ष न करता तो आज वह वनमानुष से अधिक शायद ही कुछ होता। यह ज्ञान-विज्ञान, यह सारा भौतिक विकास और मानव-जीवन की समस्त भव्यता किसकी देन है ? प्राकृतिकता के संस्कार की ही न ?

कई भावावेश मे कह देते हैं, कि—पशुओ के जीवन मे कृत्रिमता का लेश मात्र भी स्थान नही है, उनके जीवन मे न कोई विधि है, न कोई निषेध है। अत. मस्ती से जीते हैं। तो फिर आनन्दमय जीवन के लिए मनुष्य को क्यो कृत्रिमता का सहारा लेना चाहिए ? मेरे भोले बन्धु, पशुओ मे भी उनकी बुद्धि के विकास के अनुसार कृत्रिमता है ही। वे भी अपने रहने के लिए सुरक्षित स्थान बनाते हैं या ढूढते हैं। एक-एक तिनका चुनकर पक्षी भी अपना नीड़ बनाते हैं। जब वासना-पूर्ति के अनुरूप साधन प्राप्त नही होते हैं, तब उन्हे भी अपना मन रोकना पडता है। पर पशु-जीवन मनुष्य के लिए आदर्श जीवन नहीं है। जैसे प्रकृतिदत्त बाह्य साधनो को सस्कार-परिष्कार किये विना जीवन-निर्वाह के लिए उपयोग मे लेना सम्भव नही है, वैसे ही प्रकृतिदत्त आभ्यान्तर भावो-वासना, इच्छा, क्रोध आदि को सस्कारित किये विना उदात्त जीवन सम्भव नही है। पशु की अपेक्षा मानव

में पुरुषार्थ की-बुद्धि पर्वक कार्य करने की विशेषता प्राप्त है। मनुष्य यदि अपनी इस विशेषता को न समझकर हीनाचार की ओर मुडता है तो वह पुरुषार्थ उसे निम्न स्थिति मे ले जाता है और वह यदि उस विशेषता को समझकर, वाह्य जीवन मे निर्माण के लिए प्रवृत्त होता है तो भौतिक विकास को-वाह्य विकास को चरम सीमा तक पहुंचा देता है। इसी प्रकार यदि अपने पुरुपार्थ को आभ्यान्तर में लगाता है तो आन्तरिक शुद्धि, विकास और आध्यात्मिक गुणो की चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है। साराश यही है कि-बनावट के नाम पर संयम आदि से विदकने मे जीव का भला नही है। हाँ, सयम के जिस स्तर की जिसमे योग्यता हो, उस स्तर का संयम वह ग्रहण करे-इसमे किसी का कोई विरोध नहीं है।

आदर्श किसका ?

विषय यह चल रहा था, कि-महापुरुष भी व्यवहार-धर्म का उल्लंघन नहीं करते हैं। यद्यपि वे यह नही करते हैं, कि-तुम हमारा अनुमरण करो, तदपि वे लाको के अनुकरण करने की प्रकृति से भी अनभिज्ञ नही होते हैं। वे जानते हैं, कि -यत्किञ्चित् भी विशिष्टता प्राप्त व्यक्ति का प्रभाव वहुजन-समाज पर पड़ता है। जन-समाज उनके वाह्याभ्यन्तर आचरण की नकल करने लग जाता है। वे अच्छा या बुरा कैसा भी कार्य करें, पर उनसे प्रभावित मनुष्य उस कार्य को अच्छा ही समझते हैं। आज यथार्थ के नाम पर आदर्श की छीछालेदर होती है। परन्तु आर्य मनीषियो ने आदर्श की निर्दोपता पर जो अधिक जोर दिया है, उसके गर्भ मे मानव-कल्याण की ही कामना है। क्योकि अधिकांश मानव अनुकरण शील ही होते हैं।

आज व्यक्ति का आदर्श कौन हो रहा है ? सीनेमा के नटनटी। आज के कई व्यक्ति उन नट-नटियो की नकल करते है। रहन-सहन में,

बोल-चाल मे और खान-पान मे उन्ही को आदर्श मानकर चलते हैं। परन्तु यह आज की ही विशेषता है–यह कहना भी ठीक नही है। वासना-मग्न जीव वासना उत्तेजक व्यक्तियो को ही आदर्श मानते आये हैं। यहाँ तक कि वे अपने आराध्य मे भी उन वासनाओ का आरोपण कर देते हैं। आज का यथार्थ भी विचित्र स्वरूप वाला है। मानव की बुराइयाँ, वासनाएं, दुर्बलताएं आदि ही यथार्थ हैं। क्षमा, सयम, सत्य आदि मानो जीवन के अग ही नही हैं–सब अयथार्थ हैं। यदि मानव-जीवन की हीनताए ही यथार्थ हैं तो ऐसा यथार्थ ग्रहण करके, हम कौन-सा उत्थान कर सकते हैं। पतन ही यदि यथार्थ है, ऐसा यथार्थ ही सामान्यजन का आदर्श है और ऐसे यथार्थ को ही समाज मे प्रतिष्ठित करने की चाह है तो समाज का कल्याण तो दूर रहा, पर वह ईर्ष्या, द्वेष, विषय आदि ज्वालाओ से दग्ध हो उठेगा। हीनाचार वाले की आदर्श-लक्ष्य रूप मे प्रतिष्ठा होगी तो हीनाचार का ही प्रसार होगा। अतः आदर्श तो उन संयमीजनों को ही मानना चाहिए, जो अपने आचरण से अशमात्र भी उच्छृखलता को प्रोत्साहित न करते हो।

निश्चय या निश्चयाभास ?

केशि महाराज का आचरण मर्यादा-युक्त था। उनके आचरण मे व्यवहार-धर्म के अगो का विधिवत् पालन होता था। एक वर्ग संयम् बाह्य विधि-विधानो को वृथा मानता आया है। अभी भी ऐसा वर्ग है। वह कहता है–यह मत करो, वह मत करो, यहाँ मत बैठो, वहाँ मत जाओ, पाप लगेगा–इन निषेधो ने तो जीवन के प्रवाह को ही अवरुद्ध कर दिया है। हमे नही चाहिए ऐसा आचार धर्म। 'ऐसे सग मे मत रहो'–इस बाहरी अलगाव मे क्या होना जाना है। हमे नही चाहिए ऐसा शिष्टाचार। 'ब्रम्हचारी स्त्री के सम्पर्क मे न रहे'–ऐसे छुईमुई-से ब्रम्हचर्य से क्या मतलब ? मन चगा तो कठौती मे गगा। हमारा मन पवित्र है तो इन नियमो की क्या

आवश्यकता ? इन नियमो से क्या मन पवित्र हो सकता है ? यह सब ढोग है। पाखण्ड है। इस बाहरी बनावट से क्या होगा ?

अच्छा भाई ! तुम्हे बाम्ह नियम अच्छे नहीं लगते हैं ? तुम्हे बाह्य बातें बिलकुल नापसन्द है ? तब तो सडक पर सो जाते होगे ! नीद ही तो लेना है। कही भी सोओ, नीद आ जाएगी। कदाचित् सडक पर नीद आ सकती है। पर वहाँ क्या सुरक्षा है ? नीद भी क्या निर्विघ्न आ सकेगी ? एक नींद जैसे कार्य के लिए भी एकान्त स्थान चाहिए। योग्य शय्या चाहिए। ऋतु के अनुकूल साधन चाहिए। कार्य के अनुरूप बाम्ह साधन जुटाना ढोंग नहीं है। ऐसे ही आत्म-साधना के विषय में भी समझिए। यद्यपि यह बाम्ह साधना मात्र ही शुद्धि नही कर सकती। क्योकि जीवन दोनो धारा मे बाह्य और भीतर मे–प्रवाहित हो रहा है। जीवन का प्रवाह अकेले मन के माध्यम से नही, किन्तु वचन और काया के माध्यम से भी चल रहा है। जीवन बाह्य से कटकर नही चलता है। जैसे शरीर के एक-एक अग का शरीर से सम्बन्ध है। एक भी अग मे खराबी होने पर रुग्णता आ जाती है। आज की चिकित्सा-पद्धति मे अलग-अलग अगो के विशेषज्ञ हैं। वे विशेषज्ञ विभिन्न अगो को शरीर सम्बद्ध मान कर ही चलते हैं। फिर भी कभी-कभी इस विशेषज्ञ-चिकित्सा पद्धति के कारण रोगी की विडम्बना हो जाती है। अतः साधना को समग्र रूप से ही ग्रहण करना चाहिए। बाह्याभ्यन्तर दोनो प्रकार की शुद्धि ग्राह्य है। जिसके आन्तरिक शुद्धि है उसके बाहर के क्रिया-कलाप मे भी सुधार होता है। मन में चगापन है तो बाहर में क्यो न आएगा ? बिजली के बल्ब में भीतर प्रकाश है तो क्या बाहर प्रकाश नही होगा ? अत 'हमारे तो भाव शुद्ध हैं'–यह कहकर व्यवहार-शुद्धि को नही उडाना चाहिए।

नियम मात्र को ढोग और पाखण्ड समझना गलत है। ज्ञानियो ने बाह्य पदार्थों से जीव को प्रभावित होते हुए देखा और हम भी नित्य ही

ऐसा अनुभव करते हैं. इसी लिए बाह्य विधि-निषेधो का विधान किया है। केवल भाव का पक्ष लेकर, व्यवहार का निषेध करने वाली दृष्टि निश्चय दृष्टि नही, पर निश्चयाभास है।

शुध्द ध्यान के योग्य या अयोग्य पात्र

'मेरा मन शुध्द है'—यह कहने मात्र से मन शुध्द नही हो जाता है। 'मैं परमात्मा हू, अखण्ड आनन्द-स्वरूप हू, मैं त्रिकाल शुध्द चित्पिण्ड हू'—ऐसा रटन् करने से ही आत्मा शुध्द नही हो जाता। उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा है, कि——

शुद्धनय ध्यान तेहने सदा परिणमे।
जेहने शुध्द व्यवहार ही यढ़े रमे॥
मलिन वस्त्रें यथा राग कु कुम तणो।
हीन व्यवहार चित्त एह थी नवि गुणो॥ स्वामी०॥

वस्त्र यदि मैला है, तो उसे रगने से पूर्व उसका मैल साफ करना होगा। यदि मैले वस्त्र पर रग चढाया जाएगा तो उस पर रग ठीक ढग से न रम पाएगा। क्योंकि जिस-जिस स्थान पर मैल है, उस-उस स्थान पर रग मैल पर ही लगेगा और वह भी गहरा नही लगेगा। वस्त्र की शोभनता नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार शुध्दनय के अनुसार आत्मा-स्वरूप का ध्यान करने जो व्यक्ति चला है, किन्तु जिसके चित्त मे—उपलक्षण से तीनो योग = मन, वचन और काया की क्रिया मे——हीन व्यवहार बस रहा है, उसे उस ध्यान से गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु उसका मल और दृढ हो जाता है। इसी प्रकार वस्त्र को धो लेने मात्र से उस पर रग नहीं लग जाता है। किन्तु शुद्ध वस्त्र को रगने पर उस पर रग भली भाँति लग जाता है। वस्त्र की शोभा वढ जाती है। इसी भाँति जिसके हृदय मे (= वचन और

काया की क्रिया में भी शुद्ध व्यवहार रम रहा है उस आत्मा मे ही शुद्ध नय के अनुसार ध्यान शुद्ध रूप मे सदैव परिणतहोता है। शुद्ध ध्यान की योग्यता उसी में है, उसे ही शुद्ध ध्यान लग सकता है और उसी में शुद्ध ध्यान से गुणो की उत्पत्ति हो सकती है—वृद्धि हो सकती है ।

इस वर्णन का यही आशय है, कि न तो हमे ज्ञान मूढ बनना है और न क्रियाजड़ । भाव या ज्ञान और क्रिया दोनो को सम्हालना है ।

आर्य केशिकुमार श्रमण सच्चे साधक थे। अत. वे साधना के व्यवहारिक अगो की उपेक्षा नही करते थे। वे व्यवहार-शुद्धि को आत्मा-शुद्धि की पोषक समझते थे। यही बात सूत्रकार महर्षि ने उनकी चर्या के वर्णन मे दिखाई है ।

इन चार गाथाओं मे केशि महाराज से सम्बन्धित वर्णन किया गया है। अब अगली चार गाथाओं मे प्रथम गण धर इन्द्रभूतिजी गौतम से सम्बन्धित वर्णन आएगा ।

शुद्धि-पत्रक

अशुद्धियां	शुद्ध	अशुद्धियां	शुद्ध
२ घवे ईवा	घुईवा	३० व्यक्यिों	व्यक्तियों
३ देवर्ध्दि गणी	देव र्द्धिगणी	३१ लड़ने	पढ़ने
५ वनमानष	वनमानुष	३२ बिछवा	विधवा
,, श्रधिमात्म्	अध्यात्म	३६ जसखया	सखया
,, दक्षवकालिक	दशवैकालिक	३८ रीटी	रोटी
,, उत्ताज्क्षयणाणि	उत्तरज्झयणाणि	४१ तमश	तमाशा
७ विग्रय	विषयो	४७ वाचना	याचना
,, डालत	डालते	४९ यत्किन्शित	यत्किन्चित
९ जीवन	जीव	५२ सर्वज्ञत्वरुल	सर्वज्ञत्वरूप
१० केशिकुमार श्रमण	केशिकुमार श्रमण	५४ जीव जी	जीव राजो
		५८ मातु	माघु
,, श्वानव तद्	श्वानवद्	,, भाड	भीड़
११ जीर्ण मडे	जीर्णमंगे	५९ प्रारभ	अथ
,, सल्यसम्पन्न	सत्तासम्पन्न	६२ क्तियां	कृतियाँ
१२ पहूचे	पहुंचे	६४ तावे	दावे
१३ व्ययस्था	व्यवस्था	६५ सबूध्द	सबुध्द
,, शसन	शासन	,, अत्तर	उत्तर
२१ तेडप्यणव.	तेएण्यणवः	६६ आले	वाले
२६ सास	साध	६९ वरद	नारद
२७ भघवान	भगवान	७१ वारद	नारद
२८ जसोकामीलो	जसोका मी	७२ मजा	जमा
२९ तिन्निसर्गाद	तन्निसर्म्मद	७८ जणक	जनक
,, रोगी	रोग	,, पर पर	पर

८०	नामधर्म	नामकर्म	१०६	छुडाय	छुडाय
८२	महत्व	रहस्य	१०७	ब्राम्हण	ब्राह्मण
८३	प्रतिपात्र	प्रीतिपात्र	११२	छटने	छटने
,,	महत्व	ममत्व	,,	गरु	गुरु
८६	केसिकुमार समणे	केसिकुमार समवेण	,,	निर्थक	निरर्थक
			,,	मूल्ल	मूल
८७	सिद्या	विद्या	,,	काफोल	का फल
,,	प्रकटी करोषि	प्रकटीकरोषि	११३	हीता	हो गया
९०	करगा	करवा	,,	सज्जित	सचित्त
,,	छूटता	छुटता	,,	निर्थरक	निरर्थक
९१	मानकर्म	नामकर्म	११४	महायशवी	महायशस्वी
९०	यह	या	,,	दिमा	दीया
९३	कहेत	रहते	११५	शिक्षार्थी हू	शिक्षार्थी थे
९४	परिग्रह	उपरिग्रह	११७	कड़ाह रूप मे समुद्र	कडाह रूप समुद्र
९६	जान सकता	पा सकता			
,,	अभाओ	अभाव	११८	विनय विषय मे	विनय के त्रिषय मे
९७	पैंने रहते हैं पैंने	होते रहते हैं			
९८	गुखा	गुरवो	११९	हसना	कहना
	गुर्वो	गुरवो	,,	कौतिक	कौतुक
९९	बसाकर	बताकर	१२१	जाणु	जाऊं
१००	अन्धार	अन्धकार	,,	नववध	नववधू
१०१	गरु	गुरु	,,	हो गा	होगा
१०३	दे उत्तर दें	उत्तर दें	१२३	तपस्या	शाति
१०४	ब्राम्हण	ब्राह्मण	,,	मनि	मुनि
१०५	ब्राम्हण	ब्राह्मण	१२४	प्राप्ति के बाद न आने वाला	प्राप्ति के बाद चला जाने वाला
,,	कपने	क्षपने			

१२६	आये	पाये
१२७	प्रसन्न	प्रसन्नता
,,	भीगस	मीठास
,,	फिर	फिर ऐसे
,,	उत्पन्न	उत्पन्न कौन
,,	माक्तिक	मौक्तिक
,,	लीपिया	सीपिया
,,	उलझन विकट	उलझन भरी विकट
,,	तौर	और
,,	इससे	इसने
,,	धर्म	कर्म
,,	करता है	कर रहा है।
१२८	इसकी	उसकी
,,	जिनकी	जिसकी
,,	धधकती	धधकता
१२९	हैं	हो
१३३	केशिमार	केशिकुमार
,,	लेकर	ठेलकर
,,	संचित	सकुचित
,,	वह सोचता है ..	वह श्रेय साधको को हीन दृष्टि से भी देखने लग जाता है। वह सोचता है।
१३४	कई	गई
१३६	बाल	वल
,,	साधना सौन्दर्य	साधना का सौन्दर्य
	हरीकेश	हरिकेश
१३७	दृष्टि से	दृष्टि से उनका
१३८	अविाहित	अविवाहित
,,	ब्रम्हचारी	ब्रह्मचारी
१३९	४२ से ६०	४१ से ६०
,,	समय विकास	समय जो विकास
१४०	कला चाय	कलाचार्य
,,	महत्पूर्ण	महत्वपूर्ण
,,	शास्त्रो ग्रन्थो	शास्त्रों और ग्रन्थो
१४३	ब्रम्हा	ब्रह्मा
१४५	अपेक्षा	उपेक्षा
१४६	गुल छरे	गुल छर्रे
१४७	बैंटना	वैठना
,,	जितना	जिसने
१४८	धरम्	परम्
१५०	आवश्यक	अनावश्यक
,,	ललेगा	मिलेगा
१५१	करगे	करोगे
,,	फोव	फोन
१५२	तमोन	तमाशे
,,	कार्य व्यस्ता	कार्य व्यस्तता
१५३	आत्मा-वैभव	आत्मवैभव
,,	उत्पादान	उपादान
,,	मन्त्र	मन्त्रों

२१९	शास्त्र	शस्त्र
,,	ब्राम्हचर्य	ब्रह्मचर्य
२२०	कठोता	कठोरता
,,	गत्यावराध	गत्यवरोध
२२१	अक्षेप	आक्षेप
२२२	अब्रम्हय	अब्रह्मय
,,	जीवन	जीव के
,,	स्वीकार करके	स्वीकार न करके
२२३	साधक जीवन मे	साधक के जीवन मे
२२४	कास	ह्रास
,,	चरित्र	चारित्र
,,	उल्हास	उल्लहासि
२२५	क्रकन्दना	क्रन्दना
,,	दुलवुला	कुलवुला
२२६	वुक्ता	वुझता
,,	सिज्ज सस्थारं	सिज्ज सथार
,,	वातमु वगाए	वास मुवागए
२२७	फला-फला	फला-फूला
२२८	चंकाने	चुकाने
,,	पदर्थ	पदार्थ
,,	प्रकति	प्रकृति
२२९	लक्ष्य	लब्ध
८३०	वस्र	वस्त्र
,,	निशुध्दि	विशुध्दि
२३१	मिश्रीत	मिश्रित
,,	कोध	क्रोध
२३३	वस्र	वस्त्र
,,	अनागर	अनगर
२३४	त्यक्ष	यक्ष
२३५	वस्र	वस्त्र
२३६	छआछत	छुआछूत
,,	ऐसी भावना इस विचारणा मे है	
,,	ऐसी अस्पृश्यता एकान्त रूप से जैन धर्म मे मान्य नहीं है।	
,,	कुछ देर बैठना	कुछ देर तक बैठना
२३८	से वह प्रसिद्ध है	में यह प्रसिध्द है।
,,	शिष्टार	शिष्टाचार
,,	सचमुज	सचमुच
२४०	होइय	होइए
२४१	परन्त	परन्तु
,,	पर रहा है	पर रहा।
,,	परिभ्रमण कर रहा	परिभ्रमण कर रहा था।
	वियुतवेग	विद्युतवेग
२४२	सान्निध्यम्	सान्निध्य
,,	प्रसगहो उपस्थित नही हुआ था ……………और वह भी शाति से अपने साधना-पथ पर चल रहा था।	

२४३	ब्रम्हानन्द	ब्रह्मानंद	२४८	विकास	विकाश
,,	वेश्या के यहां	वेश्या के यहां ?	२४९	बुध्दि पर्वक	बुध्दि पूर्वक
२४४	कमाई मद	कमाई का मद	,,	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
,,	मछुआ	मछूआ	२५०	परन्त	परन्तु
,,	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य	,,	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य
२४५	फंमु	मुझे	२५१	,,	,,
,,	दयालु	दयालो	,,	वाम्ह	बाह्य
२४६	साध वर्ग	साधु वर्ग		शरीर सम्वध्द	शरीर से सम्बद्ध
२४७	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य	२५३	मूड	मूढ
,,	अत्याधिक	अत्यात्यन्तिक	,,	गण घर	गणधर
,,	अव्यसियत	अव्यवस्थित			



१५४	मनीनियो	मनीषियो
,,	संगातो	सघातो
१५५	माना	मानना
,,	पल	परम
,,	अज्जान	अन्जान
१५६	उगाता	ठगाता
,,	अज्ञान	अज्ञात
१५७	आगववला	आगबबूला
,,	सचित	सचित
,,	आन	आग
,,	आन को आग नही मने तो	आग को आग नही मने तो ?
१५८	समोप्य ताप	समीप्य से ताप
१६०	आचरण से	आचरण मे
१६१	सजय	संजमं
,,	कुछ के लिए	कुछ काल के लिए
,,	कर ता	कराता
१६२	जीवन कितना	जीवन मे कितना
१६३	चूप	चुप
१६४	चरित्र	चारित्र
१६६	जो निरर्थक मानता है	......जो निरर्थक मानता है ज्ञान के आचार विवेचन को को भी निरर्थक मानता है।
१६७	भाउ	भाई
,,	अन्धु	अन्धा
१६८	निराश	विनाश
	पर अधे को	पर पगु को और पंगु का सयोग न मिलने पर
१६९	अणुणिस्य	अगुणिस्स
,,	चरित्र	चारित्र
,,	कृत्कृत्य	कृतकृत्य
१७०	कृत्कृत्य	कृतकृत्य
,,	दुनिया कोई	दुनिया में कोई
,,	चरित्र	चारित्र
	विद्यमानता मे	विद्यमानता मे, ज्ञान मे
१७१	चरित्र	चारित्र
,,	भिन्न भिन्न	भिन्नाभिन्न
,,	भिन्न भिन्नती	भिन्ना-भिन्नता
१७२	अल्लिखित	उल्लिखित
,,	व्यक्यिो	व्यक्तियो
,,	अनुमीदन	अनुमोदन
१७३	दान	ज्ञान
,,	कोट	ओट
,,	ओट मे क्रियाओ को	ओट में उन क्रियाओ को
,,	आचार्य	आचार
,,	वेंचारिक	वैकारिक
,,	एकनत	एकात
,,	भव	भाव

,,	परिचय में	उनके परिचय में
१६७	पमुक	अमुक
१७७	प्रकारान्तर से दो	प्रकारांन्तर से दो विभागो में चेतना की
,,	मातृभाव	ज्ञातृभाव
,,	चेतना के तीन भेद	कम चेतना
१८०	तैराक	तैरकर
१८१	उत्पन	उत्पन्न
१८२	में	से
१८३	निश्चिय करने वाला	निश्चिय कराने वाला
,,	नन्द सूत्र	नन्दी सूत्र
१८४	प्रत्यक्ष प्रमाण परिभाषा	प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा
१८६	प्रमाणिकता	प्रामाणिकता
१८७	,,	,,
१९०	पुरासुकाल है..................	साला हँसता हुआ बोला "हाँ" पूरा-पूरा सुकाल है।
१९२	पर्याय यद	पर्याय वद
१९३	स्थति असम्भव है	स्थिति ही असम्भव है।
१९४	विहीप	विहीन
	दव्य	द्रव्य
२०२	मैं कृतार्थ हो जाउँगा	कृतार्थ हो जाऊँगा।
२०४	शत्र	शत्रु
२०७	आत्मल गिरजाता है........	और जब सहयोग देना आवश्यक हो उस समय मे सहयोग नही दिया जाता है तो साधना का क्रम टूट जाता है।
२०८	साधको पंचाचार	साधको को पचाचार
,,	सारास	सारांश
,,	भक्ति	शक्ति
२१०	गन्दगी क्रियाओं	गन्दगी की क्रियाओं
,,	चरित्र	चारित्र
२१२	चरित्र स्थविर	चारित्र स्थविर
,,	चरित्र	चारित्र
,,	वयोवृध्द साधु	क्या वयोवृध्द साधु
२१३	चरित्र	चारित्र
२१४	विहार स्थिर	विहार या स्थिर
२१५	सुई ही चुभाता है न?........	अग को ही काटता है न।
२१८	लनता	लगता
,,	चीवो	जीवो
,,	पावलम्बन	परावलम्बन
,,	यत्न करते हुए	यत्न करते हुए भी

२१९	शास्त्र	शस्त्र
,,	ब्राम्हचर्य	ब्रह्मचर्य
२२०	कठोता	कठोरता
,,	गत्यावराव	गत्यवरोध
२२१	अक्षेप	आक्षेप
२२२	अब्रम्हय	अब्रहम्य
,,	जीवन	जीव के
,,	स्वीकार करके	स्वीकार न करके
२२३	साधक जीवन मे	साधक के जीवन मे
२२४	कास	ह्रास
,,	चरित्र	चारित्र
,,	उल्हास	उल्लहासि
२२५	ऋकन्दना	क्रन्दना
,,	दुलवुला	कुलवुला
२२६	वुक्ता	वुझता
,,	सिज्ज संस्थारं	सिज्ज सथार
,,	वासमु वगाए	वास मुवागए
२२७	फला-फला	फला-फूला
२२८	चकाने	चुकाने
,,	पदर्थ	पदार्थ
,,	प्रकति	प्रकृति
२२९	लक्ष्य	लक्ष्य
८३०	वस्त्र	वस्त्र
,,	निशुध्दि	विशुध्दि

२३१	मिश्रीत	मिश्रित
,,	कोध	क्रोध
२३३	वस्र	वस्त्र
,,	अनागर	अनगर
२३४	त्यक्ष	यक्ष
२३५	वस्र	वस्त्र
२३६	छआछत	छुआछूत
,,	ऐसी भावना इस विचारणा मे है	
,,	ऐसी अस्पृश्यता एकान्त रूप से जैन धर्म मे मान्य नही है।	
,,	कुछ देर बैठना	कुछ देर तक बैठना
२३८	से वह प्रसिद्ध है	में यह प्रसिध्द है।
,,	शिष्टार	शिष्टाचार
,,	सचमुज	सचमुच
२४०	होइय	होइए
२४१	परन्त	परन्तु
,,	पर रहा है	पर रहा।
,,	परिभ्रमण कर रहा	परिभ्रमण कर रहा था।
	वियुतवेग	विद्युतवेग
२४२	सान्निध्यम्	सान्निध्य
,,	प्रसगही उपस्थित नही हुआ था ....और वह भी शाति से अपने साधना-पथ पर चल रहा था।	

२४३	ब्रम्हानन्द	ब्रह्मानंद	२४८	विकास	विकाश
,,	वेश्या के यहां	वेश्या के यहाँ ?	२४९	बुध्दि पर्वक	बुध्दि पूर्वक
२४४	कमाई मद	कमाई का मद	,,	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
,,	मछुआ	मछुआ	२५०	परन्त	परन्तु
,,	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य	,,	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य
२४५	झमु	मुझे	२५१	,,	,,
,,	दयाल	दयालों	,,	वाम्ह	वाह्य
२४६	साघ वर्ग	साधु वर्ग		शरीर सम्वध्द	शरीर से सम्बद्ध
२४७	ब्रम्हचर्य	ब्रह्मचर्य	२५३	मूड	मूढ
,,	अत्याधिक	अत्यात्यधिक	,,	गण धर	गणधर
,,	अव्यस्थित	अव्यवस्थित			



२१९	शास्त्र	शस्त्र
,,	ब्राम्हचर्य	ब्रह्मचर्य
२२०	कठोता	कठोरता
,,	गत्यावरोध	गत्यवरोध
२२१	अक्षेप	आक्षेप
२२२	अब्रम्हय	अब्रह्म्य
,,	जीवन	जीव के
,,	स्वीकार करके	स्वीकार न करके
२२३	साधक जीवन मे	साधक के जीवन मे
२२४	कास	ह्रास
,,	चरित्र	चारित्र
,,	उल्हास	उल्लहासि
२२५	ऋकन्दना	क्रन्दना
,,	दुलवुला	कुलवुला
२२६	वुक्ता	वुझता
,,	सिज्ज संस्थारं	सिज्ज सथार
,,	वासमु वगाए	वास मुवागए
२२७	फला-फला	फला-फूला
२२८	चंकाने	चुकाने
,,	पदर्थ	पदार्थ
,,	प्रकति	प्रकृति
२२९	लदय	लक्ष्य
२३०	वस्र	वस्त्र
,,	निशुध्दि	विशुध्दि
२३१	मिश्रीत	मिश्रित
,,	कोध	क्रोध
२३३	वस्र	वस्त्र
,,	अनागर	अनगर
२३४	त्यक्ष	यक्ष
२३५	वस्र	वस्त्र
२३६	छग्राछुत	छूआछूत
,,	ऐसी भावना इस विचारणा मे है	
,,	ऐसी अस्पृश्यता एकान्त रूप से जैन धर्म मे मान्य नही है।	
,,	कुछ देर वैठना	कुछ देर तक वैठना
२३८	से वह प्रसिद्ध है	में यह प्रसिव्द है।
,,	शिष्टार	शिष्टाचार
,,	सचमुज	सचमुच
२४०	होइय	होइए
२४१	परन्त	परन्तु
,,	पर रहा है	पर रहा।
,,	परिभ्रमण कर रहा	परि-भ्रमण कर रहा था।
	वियुतवेग	विद्युतवेग
२४२	सान्निध्यम्	सान्निध्य
,,	प्रसगही उपस्थित नहीं हुआ था ....और वह भी शाति से अपने साधना-पथ पर चल रहा था।	